ऐ भारत! तुम मत भूलना कि तुम्हारी स्त्रियों का आदर्श सीता, सावित्री, दमयन्ती हैं; मत भूलना कि तुम्हारे उपास्य सर्वत्यागी उमानाथ शंकर हैं; मत भूलना कि तुम्हारा विवाह, तुम्हारा धन और तुम्हारा जीवन इन्द्रिय-सुख के लिए – अपने व्यक्तिगत सुख के लिए नहीं है; मत भूलना कि तुम जन्म से ही 'माता' के लिए बलि-स्वरूप रखे गए हो; मत भूलना कि तुम्हारा समाज उस विराट् महामाया की छाया मात्र है; मत भूलना कि नीच, अज्ञानी, दरिद्र, चमार और मेहतर तुम्हारा रक्त और तुम्हारे भाई हैं। ऐ वीर! साहस का आश्रय लो। गर्व से कहो कि मैं भारतवासी हूँ और प्रत्येक भारतवासी मेरा भाई है, बोलो कि अज्ञानी भारतवासी, निर्धन भारतवासी, ब्राह्मण भारतवासी, चाण्डाल भारतवासी – सब मेरे भाई हैं; तुम भी कटिमात्र में वस्त्र लपेटकर गर्व से पुकारकर कहो कि भारतवासी मेरा भाई है, भारतवासी मेरे प्राण हैं, भारत के देवी-देवता मेरे ईश्वर हैं, भारत का समाज मेरा पालना, मेरे यौवन का उपवन और मेरे वार्धक्य की वाराणसी है। भाई, बोलो कि भारत की मिट्टी मेरा स्वर्ग है, भारत के कल्याण में मेरा कल्याण है, और रात-दिन कहते रहो कि 'हे गौरीनाथ! हे जगदम्बे! मुझे मनुष्यत्व दो; माँ, मेरी दुर्बलता और कापुरुषता दूर कर दो, मुझे मनुष्य बनाओ।'

– स्वामी विवेकानन्द

रामकृष्ण मठ (प्रकाशन विभाग)
रामकृष्ण आश्रम मार्ग,
धन्तोली, नागपुर – ४४० ०१२
E-mail - rkmnpb@gmail.com
Mob. - 9403290300
Website - www.rkmnstore.org

ISBN 978-9-3837512-2-8

For Online Purchase

(H077) Vivekananda - Rashtra Ko Ahvan : ₹ 25/-

विवेकानन्द – राष्ट्र को आह्वान

विवेकानन्द –

राष्ट्र को आह्वान

संकलन

रामकृष्ण मठ
नागपुर

प्रकाशक :
स्वामी राघवेन्द्रानन्द
अध्यक्ष, रामकृष्ण मठ
रामकृष्ण आश्रम मार्ग
धन्तोली, नागपुर-४४० ०१२

श्रीरामकृष्ण-शिवानन्द-स्मृतिग्रन्थमाला
पुष्प ७७
(रामकृष्ण मठ, नागपुर द्वारा सर्वाधिकार स्वरक्षित)
वर्ष १९७० से २०२० तक : ६,४३,४५०
उनतीसवाँ पुनर्मुद्रण : २६.११.२०२३
मुद्रित प्रतियाँ : १२,०००

ISBN – 978-93-83751-22-8

मुद्रक :
गीतांजली प्रेस प्रा. लि., नागपुर

मूल्य : रु. २५.००

प्रस्तावना

(प्रथम संस्करण)

"विवेकानंद – राष्ट्र को आह्वान" हमारा नया प्रकाशन है। इसे सहर्ष हम पाठकों के सम्मुख उपस्थित कर रहे हैं।

वस्तुस्थिति यह है कि आज भारतवर्ष में हम विभिन्न मत-मतान्तर तथा विचारधाराओं में घोर पारस्परिक संघर्ष पा रहे हैं। फलत: देश भर में बड़ी अनिश्चितता तथा बेचैनी व्याप्त है। हो यह रहा है कि प्राचीन मूल सिद्धान्तों का चिरन्तन सत्य-समूह जिसने हमें शक्ति दी थी, उत्साह एवं साहस प्रदान किया था, आज मानो एक किनारे खदेड़ दिया गया है और उसकी जगह अनेक नयी राजनीतिक तथा सामाजिक विचारधाराओं ने अपना अड्डा जमा लिया है, यहाँ तक कि आज चारित्रिक मापदण्ड भी बदल रहा है। ऐसा लगता है कि मानो इन सब नवीन विचारों ने देश पर धावा ही बोल दिया हो। यह विचारने की बात है!

अत: स्वत:सिद्ध मीमांसा यह है कि आज हमारे सम्मुख एक ऐसा मापदण्ड प्रस्तुत हो जो हमें सब बातों का ठीक ठीक सुस्पष्ट तथा असली मूल्य आँकने में सहायता करे और यह चीज नवयुवकों के लिए तो और भी अधिक आवश्यक है जिससे कि वे बिल्कुल सही, असंदिग्ध और परिष्कृत मार्ग पर अग्रसर हो सकें।

आज की परिस्थिति में स्वामी विवेकानन्द की शिक्षाएँ तथा उनका सन्देश हमारे लिए कितना मूल्यवान है, इसे आँकना सहज नहीं। हमारे राष्ट्रीय जीवन का ऐसा कोई पहलू नहीं, ऐसी कोई समस्या नहीं जिसका हल हमें उनकी शिक्षाओं में न मिल जाता हो – वे समस्याएँ चाहे किसी व्यक्ति की हों, समाज की हों अथवा देश की हों। उनके शब्द सामान्य नहीं – शक्ति से भरपूर तथा ओजस्विता से पूर्ण हैं और वह ओजस्विता आध्यात्मिकता-जनित है। यह निश्चय है कि उनकी वाणी से हमें उत्साह तथा आलोक प्राप्त होगा जिससे हम राष्ट्र का निर्माण सही मायनों में और ठीक ढंग से कर सकते हैं। हमारी यह धारणा ही नहीं, दृढ़ विश्वास है कि उनकी तेजस्वी वाणी हमारे देश के नवयुवकों में संजीवनी का संचार करेगी जिससे वे अपने देश तथा राष्ट्र को प्रत्येक क्षेत्र में उन्नत एवं समृद्धिशाली बना सकेंगे।

प्रस्तुत पुस्तक "Vivekananda : His call to the Nation" का अनुवाद है। स्वामी विवेकानन्द की संक्षिप्त जीवनी भी इस पुस्तक में जोड़ दी गयी है।

जनसाधारण में स्वामीजी के विचारों के प्रचार एवं प्रसारार्थ इस पुस्तक का मूल्य अत्यन्त अल्प रखा गया है जिससे कि हर एक व्यक्ति लाभान्वित हो सके।

नागपुर
दि. ४.१.१९७० — **प्रकाशक**

अनुक्रमणिका

विषय		पृष्ठ
१. स्वामी विवेकानन्द की संक्षिप्त जीवनी	...	१
२. श्रद्धा और बल	...	२०
३. मन की शक्तियाँ	...	२५
४. मानव : अपना भाग्यनिर्माता	...	२९
५. शिक्षा एवं समाज	...	३७
६. मनुष्य की ईश्वरभाव से सेवा	...	४४
७. धर्म और नीति	...	५२
८. हमारी मातृभूमि : भारत	...	५८
९. विविध उपदेश	...	७०
१०. संदर्भ सूची	...	७५

विवेकानन्द –
राष्ट्र को आह्वान

स्वामी विवेकानन्द की संक्षिप्त जीवनी

प्रारम्भिक काल

स्वामी विवेकानन्द का जन्म कलकत्ते में सोमवार १२ जनवरी १८६३ को हुआ था। इनके पूर्व आश्रम का नाम नरेन्द्रनाथ दत्त अथवा 'नरेन्द्र' था। पिता थे श्रीमान् विश्वनाथ दत्त तथा माता श्रीमती भुवनेश्वरी देवी। दत्त घराना सम्पन्न एवं प्रतिष्ठित था; दान-पुण्य-विद्वत्ता और साथ ही स्वतन्त्रता की तीव्र भावना के लिए प्रख्यात था। नरेन्द्रनाथ के पितामह दुर्गाचरण दत्त फारसी तथा संस्कृत के विद्वान् थे। उनकी दक्षता कानून में भी थी। किन्तु योग ऐसा कि पुत्र विश्वनाथ के जन्म के बाद उन्होंने संसार से विरक्ति ले ली और साधु हो गये। उस समय उनकी अवस्था केवल पच्चीस वर्ष थी।

श्रीमान् विश्वनाथ दत्त कलकत्ता हाईकोर्ट में वकालत करते थे। अंग्रेज़ी और फारसी भाषा में उनका अधिकार था – इतना कि अपने परिवार को फारसी कवि हाफिज की कविताएँ सुनाने में उन्हें बड़ा आनन्द आता था। बाइबिल के अध्ययन में भी वे रस लेते थे और इसी प्रकार संस्कृत शास्त्रों में। यद्यपि दान-पुण्य तथा निर्धनों की सहायता के निमित्त वे विशेष खर्चीले थे फिर भी धार्मिक तथा सामाजिक बातों में उनका दृष्टिकोण तर्कवादी तथा प्रगतिशील था – यह शायद पाश्चात्य संस्कृति के कारण। भुवनेश्वरीजी राजसी

तेजस्वितायुक्त प्रगाढ़ धार्मिकतापरायण एक संभ्रान्त महिला थीं। नरेन्द्रनाथ के जन्म के पूर्व यद्यपि उन्हें कन्याएँ थीं, पुत्र-रत्न के लिए उनकी विशेष लालसा थी। इस निमित्त वाराणसी निवासी अपने एक सम्बन्धी से उन्होंने वीरेश्वरशिव-चरणों में मनौती अर्पित करने की प्रार्थना की और कहा जाता है कि फलस्वरूप भगवान् शंकर ने उन्हें यह वचन दिया कि वे स्वयं पुत्ररूप में उनके यहाँ जन्म लेंगे। कहना न होगा, उसके कुछ समय बाद नरेन्द्रनाथ ने जन्म लिया।

बचपन की प्रारम्भिक अवस्था में नरेन्द्रनाथ बड़े चुलबुले और कुछ उत्पाती थे। किन्तु साथ ही आध्यात्मिक बातों के प्रति उनका विशेष आकर्षण था। फलतः राम-सीता, शिव प्रभृति देवताओं की मूर्तियों के सम्मुख ध्यानोपासना का खेल खेलना उन्हें बड़ा रुचिकर था। रामायण और महाभारत की कहानियाँ समय समय पर वे अपनी माँ से सुनते रहते थे। इन कथाओं से इनके मस्तिष्क पर एक अमिट छाप आयी। साहस, निर्धन के प्रति हृदय-वत्सलता तथा रमते हुए साधु-सन्तों के प्रति आकर्षण के लक्षण उनमें स्वतःसिद्ध दृष्टिगोचर होते थे। तर्कबुद्धि कुछ ऐसी पैनी थी कि बचपन में ही लगभग प्रत्येक समस्या के समाधान के लिए वे अकाट्य दलीलों की अपेक्षा किया करते थे। इन सब गुणों के प्रादुर्भाव के फलस्वरूप नरेन्द्रनाथ का निर्माण हुआ – एक परम ओजस्वी नवयुवक के रूप में।

श्रीरामकृष्णदेव के चरणकमलों में

युवक नरेन्द्रनाथ के सिंह-सौन्दर्य और साहस में पूर्ण सामंजस्य था। उनके शरीर की बनावट कसरती युवक की थी। वाणी अनुनाद एवं स्पन्दनपूर्ण तथा बुद्धि अत्यन्त कुशाग्र। खेल-कूद में उनका एक विशेष स्थान था, तथा दार्शनिक अध्ययन एवं संगीतशास्त्र आदि में उनकी प्रवीणता बड़े उच्च स्तर की थी। अपने साथियों के वे निर्द्वन्द्व नेता थे। कॉलेज में उन्होंने पाश्चात्य विचार-धाराओं का केवल अध्ययन ही नहीं किया था, बल्कि उसको आत्मसात् भी और इसी के फलस्वरूप इनके मस्तिष्क में प्रखर तर्कशीलता का

बीजारोपण हो गया था। उनमें एक ओर जहाँ आध्यात्मिकता के प्रति जन्मजात प्रवृत्ति तथा प्राचीन धार्मिक प्रथाओं के प्रति आदर था, दूसरी ओर उतना ही उनका प्रखर बुद्धियुक्त तार्किक स्वभाव था। परिणाम यह हुआ कि इन दोनों विचार-धाराओं में संघर्ष उत्पन्न हो गया। इस द्वन्द्व-परिस्थिति में उन्होंने ब्राह्म समाज में कुछ समाधान पाने का यत्न किया। ब्राह्म समाज उस समय की एक प्रचलित धार्मिक, सामाजिक संस्था थी। ब्राह्म समाजवादी निराकार ईश्वर में विश्वास करते थे, मूर्ति-पूजा का खण्डन करते तथा विभिन्न प्रकार के सामाजिक सुधारों में कार्यरत रहते थे। नरेन्द्रनाथ का एक प्रश्न यह था – ''क्या ईश्वर का अस्तित्व है?'' इस प्रश्न के निर्विवाद उत्तर के लिए वे अनेक विख्यात धार्मिक नेताओं से मिले किन्तु सन्तोषजनक उत्तर न पा सके – उनकी आध्यात्मिक पिपासा और भी बढ़ ही गयी।

इसी क्रान्तिक क्षण में उन्हें अपने प्रोफेसर विल्यम हेस्टी के शब्द याद आये। प्रोफेसर हेस्टी ने यह बतलाया था कि कलकत्ते के समीप दक्षिणेश्वर में एक साधु निवास करते हैं जिनको वैसी ही समाधि होती है जैसी वर्डस्वर्थ ने अपनी कविता ''The Excursion'' में वर्णित की है। इसी बीच कहीं नरेंद्रनाथ के चचेरे भाई रामचन्द्र दत्त ने भी उनसे इन साधु के बारे में जिक्र किया था और प्रेरणा दी थी कि वह वहाँ जाकर उन साधु के दर्शन करें। यह बात कोई १८८१ ईसवी की है – यही शुभ समय था जब कि इन दो महान् आत्माओं का दिव्य मिलन हुआ था – एक, वर्तमान भारत के ईश्वरीय अवतरण भगवान श्रीरामकृष्ण और दूसरी ओर उनके सन्देशवाहक विवेकानन्द। नरेन्द्रनाथ ने उनसे पूछा, ''महानुभाव, क्या आपने ईश्वर को देखा है?'' ''हाँ, मैंने उन्हें देखा है, ठीक ऐसे ही जैसे तुम्हें देख रहा हूँ, बल्कि तुमसे भी अधिक स्पष्ट और प्रगाढ़ रूप से'' – श्रीरामकृष्णदेव ने दृढ़ता से उत्तर दिया। बड़े प्रसन्न हुए विवेकानन्द – चलो अन्ततोगत्वा कोई ऐसा तो मिला जो स्वयं अपनी अनुभूति के आधार पर यह तो कह सका कि ईश्वर का अस्तित्व है। नरेन्द्रनाथ का संशय स्वाहा हो गया। शिष्य की 'शिक्षा' का श्रीगणेश यहीं से प्रारम्भ हुआ।

मनोरंजक बात यह कि यदि श्रीरामकृष्णदेव ने नरेन्द्रनाथ की विविधरूपेण परीक्षा ले ली थी तो नरेन्द्र भी श्रीरामकृष्णदेव के आध्यात्मिक दावे की सत्यता की जाँच करने में चूके नहीं थे। एक समय ऐसा आ गया था जब १८८४ ईसवी में पिताजी के निधन के बाद नरेन्द्रनाथ के परिवार को अनेक कठिनाईयों का सामना करना पड़ा था। गुरुदेव ने सुझाव दिया कि दक्षिणेश्वर में माँ काली के श्रीचरणों में प्रार्थना करो जिससे कि परिवार का दुःख दूर हो जाय। नरेन्द्रनाथ प्रार्थना करने तो गये किन्तु धन और सम्पत्ति के स्थान पर माँग ली केवल ज्ञान और भक्ति।

शनैः शनैः उन्होंने गुरुदेव के समक्ष आत्मसमर्पण कर दिया। गुरुदेव श्रीरामकृष्ण ने अपने असीम धैर्य द्वारा इस नवयुवक भक्त की क्रान्तिकारी भावना का शमन कर दिया। उन्हें संशयात्मिकता से निश्चयता की ओर एवं वेदना से आध्यात्मिक रसास्वादन की ओर अग्रसर कराया। कहना तो यह होगा कि आध्यात्मिक सम्बल एवं निर्देश से भी अधिक उनके प्यार ने ही नवयुवक नरेन्द्रनाथ को जीत लिया और शिष्य ने भी अपने गुरु को उसी प्रकार भरपूर रूप से प्यार किया। कहना न होगा कि श्रीरामकृष्णदेव की अस्वस्थता ही, जिसके कारण उन्हें कलकत्ता शहर के बाहर काशीपुर ले जाया गया, एक ऐसा साधन बनी जहाँ से नरेन्द्रनाथ की पूर्ण शिक्षा का प्रारम्भ श्रीगुरुचरणों के समीप हुआ। यही समय था जब उनके भीतर प्रबल आध्यात्मिक पिपासा जागृत हुई थी जिसका विकास उनकी अनेकानेक प्रबल साधनाओं द्वारा हुआ। गुरुदेव ने इस अवसर का बड़ा सुन्दर सदुपयोग किया और अपने अनेक नवागत भक्तों को नरेन्द्रनाथ के नेतृत्व के अन्तर्गत लगा दिया।

एक दिन नरेन्द्र ने जब उनसे निर्विकल्प समाधि के वरदान की प्रार्थना की – क्योंकि निर्विकल्प समाधि साधारणतया आध्यात्मिक अनुभूति की सर्वोच्च अवस्था मानी जाती है – तो श्रीरामकृष्णदेव ने क्षुब्ध होकर यही कहा, "तुम्हें लज्जा नहीं आती? मेरी धारणा तो यह थी कि तुम एक महान् वटवृक्ष के समान बढ़ोगे – संसार के शोक-ताप से हजारों का त्राण करोगे किन्तु अब मैं देखता हूँ कि तुम केवल अपनी ही मुक्ति के इच्छुक हो।"

किन्तु साथ ही यह भूलना न होगा कि नरेन्द्रनाथ को परम वांछित आत्मानुभूति हो चुकी थी यद्यपि गुरुदेव ने यह अवश्य कह दिया था कि उसकी चाभी उन्हीं के पास रहेगी और द्वार उस समय तक न खोला जायगा जब तक नरेन्द्र अपना वह कार्य पूरा न कर लें जिसके लिए वे इस संसार में आये हैं।

अपनी महासमाधि के तीन-चार दिन पूर्व श्रीरामकृष्णदेव ने नरेन्द्रनाथ को अपनी स्वयं की सारी शक्ति दे डाली और उनसे कह दिया – "मेरी इस शक्ति से, जो तुममें संचारित कर दी है, तुम्हारे द्वारा बड़े-बड़े काम होंगे, और उसके बाद, केवल उसके बाद वहाँ चले जाओगे जहाँ से आये हो।"

१८८६ ईसवी में श्रीरामकृष्णदेव की महासमाधि के बाद अनेक नवयुवक भक्त नरेन्द्रनाथ के नेतृत्व में वराहनगर स्थित एक पुराने ध्वस्त घर में एकत्र हुए। यहीं प्रबल तपस्या तथा आध्यात्मिक साधनाओं का प्रारम्भ हुआ तथा श्रीरामकृष्ण संघ की नीव पड़ी और इन्हीं दिनों अपने अनेक गुरुभाइयों को साथ लेकर नरेन्द्रनाथ आँटपुर गये जहाँ बड़े दिन (१८८६) के अवसर एक खुले स्थान में अग्नि के चारों ओर बैठकर संन्यास आश्रम का संकल्प लिया। वराहनगर में जो दिन व्यतीत हुए वे बड़े ही आनन्द के थे – वहाँ खूब अध्ययन होता था और प्रचण्ड आध्यात्मिक साधनाएँ।

अब समय आ गया जब कि संन्यासी भक्तों ने मानो परिव्राजक जीवन का आन्तरिक आव्हान सुना। फलतः १८८८ ईसवी के समाप्त होते-होते नरेन्द्रनाथ समय समय पर मठ से बाहर भी जाने लगे।

परिव्राजक विवेकानन्द

१८८८ ईसवी के अन्त से लेकर १८९० के बीच नरेन्द्रनाथ के दृष्टिकोण में एक जबर्दस्त परिवर्तन हुआ क्योंकि प्रारम्भ में तो वे थोड़े ही समय के लिए बाहर आते-जाते रहे, परन्तु बाद में अपने गुरुभाइयों से विदा लेकर एकमात्र अकेले अज्ञात साधु के रूप में भ्रमण में संलग्न हुए। इस अवसर पर तो उनके लिए अपने नाम को गुप्त रखना भी आवश्यक हो गया। फलतः समय समय पर उन्होंने विभिन्न नाम अपनाये जिससे कि भारत

की विशालता में वे घुल-मिल जायँ।

अब एक महत्त्वपूर्ण परिवर्तन यह हुआ कि भारतीय साधु की नितान्त एकान्तिक जीवन की स्वाभाविक इच्छा विलुप्त हो गयी और वह इसलिए कि नरेन्द्रनाथ को यह जागृति हो उठी कि उन्हें जन-जीवन-निर्माण का एक बहुत बड़ा काम करना है – उनका जीवन केवल इसीलिए नहीं था कि एकान्त में वे केवल स्वयं के मोक्ष के लिए संघर्ष करें। भारतवर्ष को अधिक अच्छी तरह से जानने के तीव्र आकांक्षा से प्रेरित हो एवं ध्वस्त भारतवर्ष की चारों ओर से उठती हुई एक पुकार के फलस्वरूप वे सर्वप्रथम हिन्दुओं के पवित्रतम नगर वाराणसी गये। तदनन्तर वे लखनऊ गये; आगरा, वृन्दावन, हाथरस तथा हृषिकेश गये और फिर कुछ समय के लिए वराहनगर वापस आये। हाथरस में उन्हें शरत्चन्द्र गुप्त मिले जो बाद में उनके शिष्य हुए। इनका संन्यास नाम स्वामी सदानन्द हुआ। स्वामी विवेकानन्द ने सदानन्द को उस कार्य की विज्ञप्ति करायी जो उन्हें उनके गुरुदेव श्रीरामकृष्ण ने सौंपा था अर्थात् भारतवर्ष एवं विश्व का आध्यात्मिक पुनरुत्थान। वैसे शरत्चन्द्र उस समय हाथरस रेल्वे स्टेशन के एक उच्च कर्मचारी थे। स्वामीजी को पा जाने के बाद उन्होंने पदत्याग कर दिया एवं अपने गुरु के कार्य में सहायतार्थ निकल पड़े।

स्वामीजी के जीवन में इस बीच १८९० ईसवी में एक महत्त्वपूर्ण घटना घटी। उनकी भेंट गाजीपुर के पवहारी बाबा से हुई जिनके प्रति उनके हृदय में जीवन भर से परमोच्च श्रद्धा थी। यह घटना महत्त्वपूर्ण यों कि इस समय स्वामीजी दो संघर्षशक्तियों के बीच व्यथित थे – एक ओर तो यह कि पूर्ण परब्रह्म की चिरशान्ति में लीन हो जाने की उत्कट इच्छा और दूसरी ओर अपने गुरुदेव श्रीरामकृष्ण के कार्य की पूर्ति में जीवन-दान। उनका अनुमान यह था कि पवहारी बाबा उनके हृदय की दारुण व्यथा का उपशम कर देंगे – वह व्यथा जो उस संघर्ष के फलस्वरूप उत्पन्न हुई थी जो एक ओर उन्हें ब्रह्म में लीन होने के लिए प्रेरित कर रही थी किन्तु साथ ही उन्हें अपने गुरुदेव द्वारा सौपे हुए कार्य से दूर करती जा रही थी। इक्कीस दिन

तक नरेन्द्रनाथ में यह संघर्ष चलता रहा और वे परब्रह्म में लीन होने के मार्ग को जब जब अपनाने के लिए तत्पर होते थे तब तब श्रीरामकृष्णदेव का दिव्य आलोक उन्हें उससे निरत कर देता था।

१८९० जुलाई में स्वामीजी ने श्रीश्रीमाँ सारदादेवी के श्रीचरणों में प्रणाम करके विदा ली। श्रीश्रीमाँ श्रीरामकृष्णदेव की धर्मसंगिनी एवं लीलासहचरी थी तथा गुरुदेव की महासमाधि के बाद वे ही इन साधुजनों की आध्यात्मिक पथ-प्रदर्शक थीं। स्वामीजी ने अपने गुरुभाइयों से भी विदा ली – यही दृढ़ निश्चय करके कि वे समस्त बन्धनों को विच्छिन्न कर हिमालय की नीरवता में ही निवास करेंगे। असल में नितान्त एकान्तवास उन्हें आवश्यक प्रतीत हुआ। रोमाँ रोलाँ के शब्दों में यह एक बहुत बड़ा प्रस्थान था। एक गोताखोर के समान वे भारत के समुद्र में कूद पड़े और यह समुद्र उनके पूरे मार्ग पर छा गया। इस समुद्र में तैरनेवाली सहस्रों नगण्य वस्तुओं के बीच में वे भी एक थे – अज्ञात गेरुआ वस्त्रधारी संन्यासी। किन्तु विशेषता यह थी कि प्रचण्ड बुद्धि एवं प्रखर मेधा की चिनगारी उनकी आंखों में थी। कुछ भी हो, छिपे रूप में एक तेजस्वी राजकुमार थे।

परिव्राजक अवस्था में उत्तर प्रदेश, राजस्थान, गुजरात, महाराष्ट्र, मैसूर, केरल, मद्रास तथा हैद्राबाद प्रभृति प्रान्तों के धार्मिक एवं ऐतिहासिक स्थानों में गये। सर्वत्र प्राचीन भारतवर्ष का गौरव – चाहे वह राजनीतिक हो, सांस्कृतिक अथवा आध्यात्मिक – उनके सम्मुख स्पष्ट रूपेण झलक उठा। कहना न होगा कि अतुल अनुभव-संचय के बीच भारतीय जनसंमुदाय का दैन्य दु:ख ही मानो उनके सामने सर्वाधिक रूपेण उठ खड़ा हुआ। वे एक राजसी रियासत से दूसरी रियासत को गये, इसी अनुसन्धान में कि भारतीय जनसमुदाय का कष्टनिवारण किस प्रकार हो। इस प्रसंग में उनका सम्पर्क अनेक महान् व्यक्तियों से हुआ, कितने ही राजा-राजवाड़ों से हुआ जहाँ उनकी सादर अभ्यर्थना हुई। इनमें से खेतड़ी के महाराज अजीतसिंह उनके परम मित्र तथा अनन्य भक्त हो गये।

अलवर में उन्होंने पातंजल महाभाष्य का अध्ययन किया और पूना

के वरिष्ठ राजनीतिक नेता बाल गंगाधर तिलक के साथ अतिथि रूप से ठहरे। प्रारम्भ में तो तिलक ने उनसे कुछ व्यंगात्मक वार्तालाप किया किन्तु फिर जब उन्होंने स्वामीजी की प्रकाण्ड विद्वत्ता तथा ठोस भावधारा को पहचाना तब उन्होंने उनसे एक आदरणीय अतिथि के रूप में ठहर जाने के लिए प्रार्थना की। पूना से स्वामीजी बेलगाँव आये, वहाँ से बंगलोर तथा मैसूर। महाराज ने स्वामीजी को आर्थिक सेवा का आश्वासन दिया जिससे कि वे पाश्चात्य देशों में जाकर भारतवर्ष के लिए सहायता प्राप्त कर सकें तथा सनातन धर्म का प्रचार करें। मैसूर से स्वामीजी ने त्रिवेन्द्रम और फिर कन्याकुमारी की यात्रा की।

स्वामीजी जहाँ जहाँ गये, वहाँ उन स्थानों के महत्त्व अथवा जिन लोगों से भेंट हुई उनकी वरिष्ठता से वे प्रभावित हुए हों सो बात नहीं। असल में वहाँ की जनता के क्लेश एवं दैन्य से ही उनकी अन्तरात्मा को बड़ा कष्ट हुआ। भारतवर्ष का उन्होंने सम्पूर्ण भ्रमण किया था, प्राय: पैदल ही चले थे और इस प्रकार लगभग तीन वर्ष की सतत अवधि में उन्हें भारतवर्ष का प्रत्यक्षत: ज्ञान प्राप्त हो गया था। अब मानो उनकी इस यात्रा का अवसान हो गया और कन्याकुमारी मन्दिर में माँ कुमारी के श्रीचरणों में अत्यन्त भावपूर्ण हो उन्होंने दण्डवत् किया। फिर वे समुद्र में उतरे और भारतवर्ष के दक्षिण तट से दूर दिखने वाली एक चट्टान तक तैरते हुए पहुँच गये। वहाँ वे रात भर आसन मुद्रा में बैठे रहे और गम्भीर ध्यानमग्न हो गये। भारतवर्ष के सम्पूर्ण भ्रमण का पूरा दृश्य उनकी आँखों के सामने होता हुआ गुजर गया। भारत के भूतकाल का उन्होंने चिन्तन किया, वर्तमान का किया और भविष्य का, देश की अवनति के कारणों पर मनन किया और उन साधनों पर विचार किया जिनसे कि देश का पुन: उत्थान हो। उसी क्षण उन्होंने पाश्चात्य देशों में जाने का निर्णय किया जिससे कि वे भारतवर्ष की निर्धनता निवारण-हेतु सहायता प्राप्त करके अपने जीवन के लक्ष्य को रूपान्तरित कर सकें।

यह निर्णय मन में लेकर उन्होंने रामेश्वरम् तथा मदुराई की यात्रा की। उसके बाद वे मद्रास गये जहाँ आलासिंगा पेरुमल के नेतृत्व में नवयुवकों

का एक समुदाय उनके आगमन की तीव्र प्रतीक्षा कर रहा था। इन नवयुवकों के सम्मुख उन्होंने अमरीका जाने का अपना अभिमत व्यक्त किया जहाँ शिकागो नगर में होने वाली धर्मसभा में उन्हें भाग लेना था। फलत: उनके नवयुवक भक्तों ने उनकी यात्रा के निमित्त धनराशि एकत्रित की। किन्तु स्वामीजी इस समय तक भी निश्चयात्मक रूपेण यह धारणा नहीं कर सके थे कि उनकी अमरीका यात्रा के सम्बन्ध में जगन्माता की इच्छा थी अथवा नहीं और इसलिए उन्होंने वह समस्त धनराशि निर्धनों में वितरित कर देने को कहा। इसी अवसर पर एक दिन स्वामीजी को एक सांकेतिक स्वप्न हुआ। उन्होंने देखा कि भगवान श्रीरामकृष्ण समुद्र के ऊपर से चले जा रहे हैं और उन्हें पीछे पीछे आने का आदेश दे रहे हैं। श्रीश्रीमाँ सारदादेवी की अनुमति तथा उनका शुभाशीर्वाद स्वामीजी को प्राप्त था, अत: इस स्वप्नदर्शन के साथ श्रीश्रीमाँ के शुभाशीर्वाद के संयोग ने स्वामीजी की समस्या की मीमांसा कर दी। विशेष बात यह कि श्रीश्रीमाँ को भी इस विषय में श्रीरामकृष्णदेव की सम्मति एक स्वप्न में प्राप्त हो गयी थी। निदान, स्वामीजी के नवयुवक भक्तों ने पुन: प्रयोजनीय धनराशि एकत्र करना प्रारम्भ कर दिया।

इसके बाद स्वामीजी कुछ समय के लिए हैद्राबाद गये। इसी बीच जब कि उनकी अमरीका यात्रा के सम्बन्ध में आवश्यक प्रबन्ध हो रहे थे, आकस्मिक रूप से खेतड़ी नरेश के पास से उन्हें एक निमन्त्रण आया। महाराजा ने प्रार्थना की थी कि उनके पुत्र-जन्म के उपलक्ष्य में स्वामीजी वहाँ पधारने की कृपा करें। खेतड़ी नरेश स्वामीजी के शिष्य थे अत: स्वामीजी उस निमन्त्रण को अस्वीकार नहीं कर सके। स्वामीजी वहाँ पहुँचे और महाराजा ने उनका भव्य, हार्दिक स्वागत किया। साथ ही यह आश्वासन दिया कि वे स्वामीजी की अमरीका यात्रा में यथासम्भव सहायता प्रदान करेंगे। कहा जाता है कि यहीं स्वामीजी ने महाराजा खेतड़ी के प्रस्ताव पर अपना नाम 'विवेकानन्द' धारण किया। महाराजा ने अपने वचन का पालन किया और जब स्वामीजी बिदा हुए तो उन्होंने अपने निज सचिव को उनके साथ यह आदेश देकर बम्बई तक भेज दिया कि वे स्वामीजी की यात्रा का सब प्रकार प्रबन्ध एवं

व्यवस्था करके ससम्मान बिदाई दें। स्वामीजी की अमरीका यात्रा ३१ मई १८९३ को प्रारम्भ हुई।

विश्वमंच पर

स्वामीजी चीन, जापान एवं कनाडा होते हुए अमरीका गये और लगभग जुलाई मध्य में शिकागो पहुँचे। कॅन्टब में उन्होंने कुछ बुद्ध-विहार देखे और जापान में वहाँ की औद्योगिक प्रगति तथा लोगों में रहन-सहन की स्वच्छता देखकर मुग्ध हुए। शिकागो में तो वहाँ के जगमगाते हुए विपुल ऐश्वर्य एवं पाश्चात्य देशीय गवेषणात्मक प्रतिभा को देखकर, वे एक बालक के समान मुह्यमान हो गये। उन्हें बड़ी निराशा यह जानकर हुई कि धर्म-सम्मेलन सितम्बर तक नहीं होगा, साथ ही बिना परिचय-पत्र के वहाँ कोई भी प्रतिनिधि नहीं हो सकेगा। उनके पैर तले तो मानो जमीन सरक गयी किन्तु शीघ्र ही अपने को प्रभु के हाथों सौंपकर वे बोस्टन शहर चले आये जो शिकागो जैसा महंगा नहीं था। ट्रेन में ही उनका परिचय मिस कैथरीन सॅनबोर्न से हो गया जिन्होंने स्वामीजी को अपने यहाँ बोस्टन में अतिथि होने के लिए आमन्त्रित कर लिया। मिस सॅनबोर्न के द्वारा उनका परिचय हार्वर्ड यूनिवर्सिटी के विख्यात प्रोफ़ेसर जॉन हेनरी राइट से हो गया। प्रोफेसर राइट ने स्वामीजी को धर्म-सम्मेलन के सभापति के नाम एक परिचय-पत्र दे दिया। इस पत्र में डॉ. राइट ने यह लिखा था, "यहा एक ऐसा व्यक्ति है जो अपने यहाँ के सारे विद्वान प्राध्यापकों की इकट्ठी विद्वत्ता से भी कहीं अधिक विद्वान है।"

धर्म-सम्मेलन प्रारम्भ होने के कोई दो दिन पूर्व स्वामीजी शिकागो पहुँचे किन्तु उन्हें क्षोभ हुआ यह देखकर कि उस कमेटी का पता उनके पास से न जाने कहाँ खो गया है, जिसके जिम्मे प्राच्य प्रतिनिधियों के ठहरने आदि की व्यवस्था थी। कोई और उपाय न देखकर रेल्वे यार्ड में पड़े हुए एक रेल डिब्बे में उन्होंने रात बितायी और सबेरा होते ही इस खोज में निकले कि शायद कोई ऐसा मिल जाय जो उनकी इस कठिनाई को दूर कर दे। किन्तु वहाँ तो 'काले आदमी' के प्रति सहायता ऐसी आसान चीज नहीं थी।

थके माँदे, वे सड़क किनारे बैठ गये और अपने को ईश्वरेच्छा पर छोड़ दिया। इतने में ही सामने के मकान से एक भद्र राजसी प्रतिभायुक्त महिला निकली; इनके समीप आयीं और इन्हें यथोचित सहायता प्रदान की। ये महिला श्रीमती जार्ज डब्ल्यू हेल थीं – वही महिला जिनका निवासस्थान भविष्य में स्वामीजी का यूनाइटेड स्टेट्स में स्थायी पता हुआ। समस्त हेल परिवार ने स्वामीजी का शिष्यत्व ग्रहण किया था।

धर्म-सम्मेलन का उद्घाटन ११ सितम्बर १८९३ को हुआ। आर्ट इन्स्टीट्यूट का भव्य हॉल लगभग ७००० श्रोताओं एवं दर्शकों से ठसाठस भरा था। उपस्थित व्यक्तियों में देश भर के सर्वोच्च शिक्षा सम्पन्न सम्भ्रान्त व्यक्ति थे। मंच पर समस्त विश्व के संघटित धर्मों के प्रतिनिधि विराजमान थे। स्वामीजी ने इतने विशाल प्रतिष्ठित जनसमुदाय के समक्ष कभी भाषण नहीं दिया था। स्वाभाविक है उन्हें आरम्भ में बड़ी घबड़ाहट हुई। किन्तु जब भाषण की बारी आयी तो मन ही मन उन्होंने देवी सरस्वती को प्रणाम किया और इन शब्दों से अमरीका के उस अतुल जनसमुदाय को सम्बोधित किया 'अमरीका निवासी भगिनी एवं भ्रातृगण'। ऐसा सम्बोधन तो वहाँ की जनता के लिए बड़ा दिव्य था – फलतः ऐसी तुमुल तालियों की बौछार हुई कि वह लगातार पूरे दो मिनट तक जारी रही – साथ ही 'सात हजार व्यक्ति हर्षलुप्त हो अभ्यर्थनार्थ खड़े हो गये – किस अभ्यर्थना के लिए, वे स्वयं नहीं जानते थे'। स्वामीजी के इन दो सरल शब्दों में निहित तीव्र आन्तरिक भावना, स्वामीजी का महान व्यक्तित्व, उनका तेजस्वी मुखमण्डल, उनके गेरुआ वस्त्र प्रभृति का इतना भव्य प्रभाव हुआ कि दूसरे ही दिन समाचार-पत्रों ने उन्हें उस पूरे धर्म-सम्मेलन में सर्वश्रेष्ठ एवं महानतम व्यक्ति कहकर वर्णित किया। कल जो कमण्डलु लिये हुए सामान्य से साधु थे वे आज सर्वोपरि हुए।

इस धर्म-सम्मेलन में स्वामीजी के बाद के जितने भी भाषण हुए वे सभी श्रद्धा एवं सराहना से सुने गये। इन सब भाषणों में एकसूत्रता थी विश्वबन्धुत्व की। जब कि सम्मेलन में आये हुए अन्य प्रतिनिधियों ने केवल

अपने अपने धर्म की ही दुहाई दी, स्वामीजी का भाषण उस धर्म पर हुआ जो आकाश के समान विशाल एवं समुद्र जैसा गहन है।

धर्म-सम्मेलन का अधिवेशन समाप्त हुआ और इधर स्वामीजी के शान्ति के दिन भी। अर्थात् अब जो प्रारम्भ हुआ वह स्वामीजी का अत्यन्त व्यस्त काल, संयुक्त राष्ट्र अमरीका के लगभग प्रत्येक भाग में उनके भाषणों का ताँता। एक संस्था से भाषण-भ्रमण के सम्बन्ध में उनकी लिखापढ़ी हो गयी जिसके फलस्वरूप उन्हें लगातार प्रवास में रहकर नाना प्रकार की श्रोता-मण्डली के समक्ष भाषण देने पड़े थे।

यद्यपि इस भाषण-प्रवास में उन्हें यह लाभ अवश्य हुआ कि पाश्चात्य जीवन की विभिन्न पहलुओं को उन्होंने प्रत्यक्षत: जान लिया फिर भी उन्हें यह दु:ख अनुभव हुआ कि वह संस्था उनका नाजायज फायदा उठा रही है तथा कभी कभी उन्हें संकोचशील अवस्था में भी डाल देती है। इस पर स्वामीजी को बहुत ग्लानि हुई और उन्होंने उस संस्था से अपना सम्बन्ध विच्छेद कर लिया।

अब स्वामीजी की इच्छा यह हुई कि आन्तरिक पिपासायुक्त शिष्यों का संगठन हो और इस हेतु इस श्रेणी के विद्यार्थियों के लिए उन्होंने नि:शुल्क कक्षाएँ आरम्भ कर दी। पश्चिम में वे दिसम्बर १८९६ ई. तक थे और उनका यह सारा समय उत्कट व्यस्तता में व्यतीत हुआ। न्यूयार्क में अगणित भाषण तथा कक्षाओं के अतिरिक्त उन्होंने वहाँ एक वेदान्त-समिति की स्थापना की, थाउजैन्ड आइलैन्ड पार्क में अनेक अन्तरंग शिष्यों का मण्डल तैयार किया, राजयोग ग्रन्थ की रचना की तथा दो साफल्यमण्डित यात्राएँ इंग्लैण्ड की कीं जहाँ उन्होंने अनेक भाषण दिये। इन्हीं में से कुछ भाषणों का संकलन उनका ग्रन्थ 'ज्ञानयोग' है। इंग्लैण्ड में अनेक व्यक्तियों ने उनका शिष्यत्व ग्रहण किया जिनमें प्रमुख कैप्टेन तथा श्रीमती सेवियर, भगिनी निवेदिता तथा ई. टी. स्टर्डी हैं। इसके पूर्व न्यूयार्क में स्वामीजी ने जे. जे. गुडविन नामक एक अँग्रेज नवयुवक आशुलिपिक को शिष्य के रूप में ग्रहण किया था। इन्हीं यात्राओं के अवसर पर स्वामीजी ने विख्यात विद्वत्प्रवर मैक्स मूलर से सोल्लास भेंट की थी। १८९५ ई. के ग्रीष्मकालीन युरोपीय प्रवास के समय उनकी भेंट प्रख्यात जर्मन प्राच्यवादी पॉल डायसन से भी हुई थी।

विश्व के समस्त धर्मों के आधारभूत वेदान्त के सन्देश को पाश्चात्यवासियों के समीप तक पहुँचाने में स्वामीजी को अत्यधिक परिश्रम करना पड़ा था, परन्तु इसका सुन्दर परिणाम यह हुआ कि संयुक्त राष्ट्र अमरीका में वेदान्तप्रचार का कार्य एक स्थायी आधार पर आसीन हो गया। लन्दन के कार्य में भी कुछ प्रगति हुई थी। अब स्वामीजी की मातृभूमि उन्हें बुला रही थी। वह उनके सन्देश को प्राप्त करने की इच्छुक थी। अत: वे १८९६ के अन्त में भारतवर्ष के लिए रवाना हुए। अपने अँग्रेज तथा अमरीका निवासी शिष्यों के अतिरिक्त स्वामीजी ने दो गुरुभाई स्वामी सारदानन्द तथा स्वामी अभेदानन्द को आगे कार्य सम्पादन के लिए पाश्चात्य देश में रहने दिया।

विजयश्रीमण्डित स्वदेश-आगमन

सेवियर दम्पति के साथ स्वामीजी १६ दिसम्बर १८९६ को लन्दन से रवाना हुए और इटली में रोम तथा अन्य स्थानों को देखते हुए नेपल्स पहुँचे जहाँ से ३० दिसम्बर को वे जहाज द्वारा भारतवर्ष के लिए रवाना हुए। नेपल्स में मिस्टर गुडविन भी साथ हो लिये। १५ जनवरी १८९७ को सब लोग कोलम्बो आये। स्वामीजी के आगमन का समाचार पहले ही भारतवर्ष पहुँच चुका था और समस्त देश में प्रत्येक स्थान पर लोग उनके स्वागतार्थ जोश से उमड़ रहे थे। अब वे एक अज्ञात संन्यासी नहीं रह गये थे। प्रत्येक शहर में, वह छोटा हो या बड़ा, स्वामीजी की समुचित अभ्यर्थना के लिए समितियों का निर्माण हो गया था। रोमाँ रोलाँ के शब्दों में "स्वामीजी ने शंखध्वनि द्वारा आशा-चकोर असंख्यात व्यक्तियों को भारत के लिए सन्देश देकर राम, शिव और कृष्ण की भूमि के पुनरुत्थान को ध्वनित कर दिया; साथ ही वीरत्व अर्थात् अजर अमर आत्मा का मानो युद्ध के लिए आव्हान किया। वे एक सेनापति थे जो अपनी मुहिम अथवा अभियान-योजना को समझाते हुए लोगों को एक साथ एक बारगी उठ खड़े होने के लिए सम्बोधित कर रहे थे : "मेरे देश उठो, कहाँ है तुम्हारी प्राणशक्ति – तुम्हारी अमर आत्मा में।"

मद्रास में उन्होंने पाँच सार्वजनिक भाषण दिये। प्रत्येक भाषण में निर्बलता एवं अन्ध-विश्वास को उखाड़ फेंकने की बिगुल ध्वनि थी और था एक नवीन भारत निर्माण का सन्देश। उन्होंने इस बात पर विशेष जोर दिया कि राष्ट्रीय जीवन का मूल आधार धर्म है – ऐसा धर्म जो समस्त विश्व के आध्यात्मिक ऐक्य का प्रचार कर और जब वह प्राप्त हो जाएगा तब हर एक चीज स्वत:सिद्ध अपने आप सुधर जाएगी। अपने देशवासियों की पाश्चात्य के प्रति अन्ध-अनुकरण-वृत्ति की भी उन्होंने तीव्र आलोचना की और इसी प्रकार लोगों की रूढ़िवादिता, जातिसंकीर्णता आदि आदि की भी।

मद्रास से जहाज द्वारा स्वामीजी बीस फरवरी को कलकत्ता आये। इस मातृ-नगर ने उनका भव्य स्वागत किया और यहाँ उन्होंने अपने गुरुदेव भगवान श्रीरामकृष्ण के सम्बन्ध में हृदयस्पर्शी भाव व्यक्त किये : "यदि मैंने कभी भी मनसा, वाचा, कर्मणा, किसी भी चीज की उपलब्धि की है, यदि मेरे मुँह से कभी एक भी ऐसा शब्द निकला है जिससे संसार में किसी को लाभ हुआ हो तो इन सब के प्रति मैं यही कहूँगा इसमें मेरा कुछ नहीं है, सब कुछ उन्हीं का रहा है ... यदि यह राष्ट्र अपना उत्थान चाहता है तो मेरी बात मानो, राष्ट्र को उन्हीं के शुभ नाम का सम्बल लेना होगा"।

अपने कार्य को दृढ़ आधार पर स्थापित करने के उद्देश्य से स्वामीजी ने अपने सब संन्यासी एवं गृहस्थ भक्तों को बलराम बोस के निवास-स्थान पर एकत्रित किया और वहाँ रामकृष्ण मिशन की स्थापना हुई। यह १८९७ ई. की बात है। इस मिशन के उद्देश्य तथा आदर्श, मात्र आध्यात्मिक एवं मानवता सम्बन्धी हुए। अपने विचारों एवं आदर्शों को कार्यान्वित करने के यन्त्र को स्वामीजी ने संचालित कर दिया।

कलकत्ता में मई १८९८ में प्लेग का प्रकोप हुआ। स्वामीजी ने मठ के साधुओं तथा गृहस्थ भक्तों की सहायता से सेवाकार्य का आयोजन किया। प्लेग के उपशम हो जाने पर स्वामीजी अपने पाश्चात्य भक्तों के साथ नैनीताल तथा अलमोड़ा के लिए रवाना हुए। यह अवसर मुख्यत: उनके पाश्चात्य शिष्यों के लिए शिक्षा-दीक्षा का था, विशेषत: भगिनी निवेदिता के लिए। इनमें से

कुछ भक्तों को साथ लेकर १६ जून को स्वामीजी ने काश्मीर के लिए प्रस्थान किया। यह काश्मीर-यात्रा स्वामीजी तथा उनके शिष्यगण दोनों के लिए अविस्मरणीय रही। जुलाई अन्त में स्वामीजी भगिनी निवेदिता के साथ पुण्यक्षेत्र अमरनाथ मन्दिर के दर्शन के लिए चले। स्थानीय लोकाचार एवं रीति रस्म के छोटे बड़े सभी अनुष्ठानों का पूर्णत: पालन करते हुए स्वामीजी दो अगस्त को अमरनाथ गुफा पहुँचे – केवल कौपीन धारण कर और पूरे शरीर में भस्म लगाकर उन्होंने गुफा में प्रवेश किया। पूरी देह मानो भावात्मक संवेग से सिहर उठी थी – एक महान् रहस्यपूर्ण अनुभूति उनमें व्याप्त हो गयी, ऐसी कि उसके बारे में कभी कुछ नहीं कहा, केवल इतना ही संकेत किया कि भगवान शंकर उनके सम्मुख साक्षात् प्रकट हुए थे। इसके बाद वे अकेले – नितान्त एकाकी – माँ दुर्गा के मन्दिर क्षीरभवानी गये जो श्रीनगर से कुछ ही मील दूर था। यहाँ स्वामीजी को एक दूसरा चिरस्मरणीय अनुभव हुआ। वे माँ के भाव में मानो ओतप्रोत थे और स्वरचित एक कविता से उद्धृत करते हुए इतना ही कहा, "वह सब सत्य सिद्ध हुआ – एक एक अक्षर – और मैंने उसे सिद्ध कर दिखाया – मैंने साक्षात् मृत्यु का आलिंगन किया।"

१८ अक्टूबर को जब वे कलकत्ता पहुँचे तो वे बहुत कमजोर थे – पीले, अनेक व्याधियुक्त। इस पर भी वे विभिन्न कार्यकलापों में व्यस्त हो गये। गंगा के पश्चिम किनारे पर कलकत्ता से पाँच मील दूर बेलुड़ में एक भू-खंड ले लिया गया था और इसी पर मठ के निर्माण का कार्य प्रारम्भ हो गया था। १८९९ जनवरी में संन्यासीगण मठ के नये भवन में आ गये – यही आज का बेलुड़ मठ है। निवेदिता गर्ल्स स्कूल का उद्घाटन पहले ही हो चुका था। इसी समय बंगला मासिक पत्र 'उद्बोधन' भी प्रारम्भ हो गया था और सेवियर दम्पति ने स्वामीजी के स्वप्न को भी साकार कर हिमालय अंचल में एक मठ की स्थापना कर दी – यह हुआ मायावती (अलमोड़ा) का अद्वैत आश्रम। अंग्रेजी मासिक 'प्रबुद्ध भारत' का प्रकाशन मद्रास में पहले ही आरम्भ हो गया था, किन्तु १८९८ में इसके सम्पादक का निधन हो जाने से एक मास के लिए प्रकाशन स्थगित करना पड़ा! यही मासिक पत्र

पुनः अलमोड़ा से १८९९ में प्रकाशित हुआ। इसके सम्पादक थे स्वामी विवेकानन्द के एक शिष्य स्वामी स्वरूपानन्द। तदनन्तर यह पत्र अद्वैत आश्रम, मायावती स्थानान्तरित हो गया।

इस अवसर पर मठ के संन्यासी एवं ब्रह्मचारियों को स्वामीजी तीव्र आध्यात्मिक जीवन एवं सेवा के लिए उत्कट रूप से प्रेरित करते थे जिससे उन्हें स्वयं मोक्षलाभ हो तथा मानवसमाज का हित हो – इसे ही स्वामीजी 'आत्मनो मोक्षार्थं जगद्धिताय च' कहते थे।

स्वामीजी का स्वास्थ्य गिर रहा था किन्तु उनके गुरुभाइयों ने इस विचार से कि सम्भवतः इससे उनका स्वास्थ्य सुधर जाय उनके दुबारा पाश्चात्य गमन की योजना का स्वागत किया।

विश्व-भ्रमण – एक बार पुनः

स्वामी तुरीयानन्द तथा भगिनी निवेदिता को साथ लेकर स्वामीजी ने २० जून १८९९ को भारत से प्रस्थान किया। स्वामीजी के साथ यह यात्रा उन दोनों के लिए विशेष शिक्षाप्रद थी। इस सम्बन्ध में भगिनी निवेदिता ने लिखा है, ''शुरू से लेकर अन्त तक कथाओं का एक भव्य ताँता सा लगा रहा – कहा नहीं जा सकता था कि किस क्षण स्वामीजी की अन्तःप्रज्ञा की झलक दिख जाय अथवा कोई नवीन सत्य मुखरित हो उठे।'' मद्रास, कोलम्बो तथा एडेन होता हुआ जहाज ३१ जुलाई को लन्दन पहुँचा। समुद्रयात्रा स्वामीजी के स्वास्थ के लिए हितकर सिद्ध हुई।

लन्दन में दो सप्ताह बिताकर स्वामीजी ने न्यूयार्क के लिए यात्रा की। यहाँ पहुँचकर वे लेगेट दम्पति के साथ हड़सन नदी पर स्थित उनके मनोरम ग्राम-निवास रिजली मँनर आये, ५ नवम्बर तक वे इस ग्राम-कुटीर में रहे और फिर पश्चिम तट पर पहुँचे। इधर उन्होंने लॉस एँन्जलीस, ओकलैण्ड तथा सैनफ्रैनसिस्को की यात्रा की और थोड़े थोड़े समय के लिए शिकागो तथा डेट्रायट भी आये। अब उनकी यह धारणा दृढ़तर हो गयी कि प्राच्य तथा पाश्चात्य दोनों को पारस्परिक सहायता करनी चाहिए तथा दोनों में सहकारिता की वृद्धि हो। पाश्चात्य दोनों को पारस्परिक सहायता करनी चाहिए तथा दोनों में सहकारिता

की वृद्धि हो। पाश्चात्य की भौदिक चमक-दमक उन्हें चकाचौंध नहीं कर सकती थी और न यही सत्य था कि भारत अपनी आध्यात्मिक गरिमा द्वारा अपनी सामाजिक तथा आर्थिक निर्बलताओं को दबाये रख सके।

भगिनी निवेदिता से उन्होंने कहा था, 'पाश्चात्य में सामाजिक जीवन बाह्य उल्लास का एक ढेर मात्र है, किन्तु उसके नीच छिपा है भीषण रुदन, उसकी समाप्ति होती है सिसकियों में ... यहाँ भारतवर्ष में बाह्यतः दुःख और क्षोभ है किन्तु अन्तस्तल में है बेफिकरी और आनन्द। पाश्चात्य ने बाह्य जगत् पर विजय प्राप्त करने का प्रयास किया, भारत ने अन्तर्जगत् पर। अब श्रेयस्कर यह है कि प्राच्य और पाश्चात्य दोनों हाथ में हाथ डालकर एक दूसरे के हितसाधन में लगे, किन्तु इतना अवश्य, कि बिना एक दूसरे के वैशिष्ट्य को नष्ट किये। पाश्चात्य को प्राच्य से बहुत कुछ सीखना है और इसी प्रकार प्राच्य को पाश्चात्य से। असल में भविष्य गढ़ा जाय दोनों आदर्शों के समुचित सामंजस्य से। तब न प्राच्य रहेगा न पाश्चात्य, बल्कि रहेगी एक मात्र मानवता।''

इस अवधि की एक प्रमुख घटना थी उत्तर कैलिफोर्निया में शान्ति आश्रम की स्थापना जिसका संचालन स्वामी तुरीयानन्द को सौंपा गया। सैनफ्रैन्सिस्को में एक वेदान्त केन्द्र की भी स्थापना हुई। इसी बीच स्वामीजी ने पश्चिम शहरों में अनेक व्याख्यान भी दिये। इतना जरूर कि स्वामीजी स्पष्टतः देख रहे थे कि उनका अन्तिम काल समीप आ रहा है। कु. मैक्लिऔड को उन्होंने लिखा भी था, ''मेरी नौका उस शान्त बन्दरगाह के समीप पहुँच रही है जहाँ से वह फिर कभी वापस नहीं आएगी।''

१ अगस्त १९०० को स्वामीजी धर्म-इतिहास सभा में भाग लेने पैरिस आये। यह सभा पैरिस प्रदर्शिनी के अवसर पर हुई थी। इसके उपरान्त कुछ मित्रों के साथ अक्टूबर मास में वे पैरिस से रवाना हो गये और हंगेरी, रूमानिया, सरविया तथा बलगेरिया की यात्रा की। तदनन्तर कान्सटैन्टिनोपल आये। फिर सब लोग एथेन्स और कैरो आये। कैरो में स्वामीजी भारत वापस आने के लिए एकाएक व्यग्र हो गये : उन्हें कैप्टैन सेवियर के निधन का अन्तःभास हुआ। अतः जो भी पहला जहाज मिला उसी से भारत वापस आ

गये और बिना कोई पूर्व सूचना दिए ९ दिसम्बर १९०० को बेलुड़ मठ पहुँच गये। स्वामीजी का अकस्मात् आगमन उनके गुरुभाइयों तथा शिष्यों के लिए बड़ा सुखद आश्चर्य था। उनकी वापसी से आनन्द का स्रोत उमड़ पड़ा।

यात्रा का अन्त

मठ आने पर स्वामीजी को ठीक ही ज्ञात हुआ कि कैप्टन सेवियर का स्वर्गवास २८ अक्टूबर को हो गया है। अत: तुरन्त ही श्रीमती सेवियर को सान्त्वना देने के उद्देश से वे मायावती के लिए रवाना हुए। ३ जनवरी १९०१ को वहाँ पहुँचे और एक पक्ष रहे। अद्वैतमार्ग के प्रति समर्पित इस हिमालय स्थित आश्रम के प्राकृतिक सौन्दर्य की भव्यता ने स्वामीजी को मोहित कर लिया। अस्वस्थता एवं भीषण शीत के बावजूद भी वे समीपवर्ती जंगल तथा एक निर्मित जल-कुंड के पास घूमे-फिरे – खूब प्रसन्नचित्त और निश्चिन्त।

बेलुड़ वापस आये। यहाँ सात सप्ताह रहे और फिर पूर्व बंगाल तथा आसाम की ओर यात्रा की। उनकी जननी की तीव्र इच्छा उस क्षेत्र के तीर्थस्थानों के दर्शन की थी, अत: वे उनके साथ गयीं। इस प्रसंग में उन्होंने श्रीमती बुल को लिखा था, ''पति के न रहने के बाद हिन्दू स्त्री की यह एक महान् इच्छा होती है। मैं अपने लोगों के लिए केवल क्लेश ही लाया हूँ। अपनी माता की यह एक इच्छा पूर्ण करने का मैं प्रयत्न कर रहा हूँ।'' इस प्रवास में स्वामीजी नगलबन्ध, कामाख्या तथा शिलाँग गये, ढाका एवं शिलाँग में कुछ भाषण दिये और तदनन्तर मई १९०१ कें द्वितीय सप्ताह में मठ लौट आए।

अब स्वामीजी की इच्छा मठ में कुछ निश्चिन्त जीवनयापन की हुई। अब वे कभी कभी मठ की भूमि पर ही केवल अर्ध-परिधान में विचरण करते; कभी भोजनादि की व्यवस्था देखते अथवा कभी मठ के साधुओं के साथ बैठकर भक्तिपूर्ण भजन गाते। कभी कभी वे आए हुए दर्शकों को आध्यात्मिक निर्देशन करते हुए देखे जाते, कभी अपने कक्ष में एकाकी बैठे गम्भीर अध्ययन में रत रहते, मठवासियों को कभी शास्त्र के कठिन अंशों की मीमांसा बताते अथवा कभी उनके समीप अपनी भविष्य कार्य-प्रणाली की रूपरेखा व्यक्त करते। अब उन्होंने अपने को समस्त औपचारिक कार्यों

से मुक्त कर लिया – अपने गुरुभाइयों के नाम एक न्यासपत्र (डीड ऑफ ट्रस्ट) निष्पन्न करके – और अब उन्हीं के नाम समस्त सम्पत्ति – बेलुड़ मठ सहित – हस्तांतरित कर दी, जो उस दिन तक उनके नाम थी।

सन् १९०१ ई. के अन्तिम भाग में जापान से दो विद्वान् बौद्ध उस देश में होने वाली आगामी धर्म-सभा के लिए स्वामीजी को आमन्त्रित करने आये। स्वामीजी उनके निमन्त्रण को स्वीकार तो नहीं कर सके, किन्तु उनके साथ बोधगया तक गये और वहाँ से फिर वाराणसी। वाराणसी में स्वामीजी यह देखकर विशेष आनन्दित हुए की उनके संदेश एवं आव्हान से प्रेरित कुछ नव युवकों ने वहाँ निर्धन तथा आर्त की सेवा कार्य प्रारम्भ कर दिया है। कहना न होगा, उसी सेवाकार्य ने वहाँ के भावी श्रीरामकृष्ण मिशन सेवाश्रम का रूप लिया।

स्वामीजी को ज्ञात था कि उनका अन्तकाल समीप आ रहा है। अन्तिम कुछ दिनों के उनके सारे कार्यकलाप जानबूझकर किये हुए तथा सुस्पष्ट थे। उन्होंने कहा था कि छोटे पौधे बड़े पेड़ के नीचे बढ़ नहीं सकते। ४ जुलाई १९०२ को वे कुछ असाधारणरूपेण प्रात:काल ८ से ११ तक ध्यानमग्न रहे। तीसरे प्रहर स्वामी प्रेमानन्द के साथ घूमने गये और उन्हें वैदिक पाठशाला प्रारम्भ करने की अपनी एक योजना बतायी। सायंकाल वे अपने कक्ष में चले गये और वहाँ एक घण्टा ध्यानस्थ रहे। उसके बाद चुपचाप लेट गये, दो गहरी साँसें लीं और चिरशान्ति में लीन हो गये।

उनका पार्थिव शरीर चला गया, किन्तु अपनी चिर अमरता का प्रत्येक व्यक्ति को आश्वासन दिलाते रहने के लिए उनके वे शब्द स्थायी एवं चिरव्याप्त हैं जो उन्होंने मिस्टर एरिक हैमन्ड को लन्दन में कहे थे : ''सम्भवत: यह अच्छा होगा कि मैं अपने इस शरीर के बाहर निकल आऊँ और इसे जीर्ण वस्त्र की भाँति उतार फेंकूँ, किन्तु फिर भी मैं कार्य करते रहने से रुकूँगा नहीं। मानवसमाज में मैं तब तक सर्वत्र प्रेरणा प्रदान करता रहूँगा जब तक कि संसार यह भाव आत्मसात् न कर ले कि वह ईश्वर के साथ एक है।''

□□□

श्रद्धा और बल

जिसमें आत्मविश्वास नहीं है वही नास्तिक है। प्राचीन धर्मों में कहा गया है, जो ईश्वर में विश्वास नहीं करता वह नास्तिक है। नूतन धर्म कहता है, जो आत्मविश्वास नहीं रखता वही नास्तिक है। (व्या.जी.वे. १६)

संसार का इतिहास उन थोड़े से व्यक्तियों का इतिहास है, जिनमें आत्मविश्वास था। यह विश्वास अन्तःस्थित देवत्व को ललकार कर प्रकट कर देता है। तब व्यक्ति कुछ भी कर सकता है, सर्व समर्थ हो जाता है। असफलता तभी होती है, जब तुम अन्तःस्थ अमोघ शक्ति को अभिव्यक्त करने का यथेष्ट प्रयत्न नहीं करते। जिस क्षण व्यक्ति या राष्ट्र आत्मविश्वास खो देता है, उसी क्षण उसकी मृत्यु आ जाती है।(भ.बु.स. ११४-१५)

विश्वास – विश्वास! अपने आप पर विश्वास, परमात्मा के ऊपर विश्वास – यही उन्नति करने का एकमात्र उपाय है। यदि पुराणों में कहे गये तैंतीस करोड़ देवताओं के ऊपर और विदेशियों ने बीच बीच में जिन देवताओं को तुम्हारे बीच घुसा दिया है, उन सब पर भी तुम्हारा विश्वास हो और अपने आप पर विश्वास न हो, तो तुम कदापि मोक्ष के अधिकारी नहीं हो सकते। (भा.वि. १०९)

यह कभी न सोचना कि आत्मा के लिए कुछ असम्भव है। ऐसा कहना ही भयानक नास्तिकता है। यदि पाप नामक कोई वस्तु है तो यह कहना ही एकमात्र पाप है कि मैं दुर्बल हूँ अथवा अन्य कोई दुर्बल है। (व्या.जी.वे. २६)

तुम जो कुछ सोचोगे, तुम वही हो जाओगे; यदि तुम अपने को दुर्बल समझोगे, तो तुम दुर्बल हो जाओगे; बलवान सोचोगे तो बलवान बन जाओगे। (भा.वि. ३६)

मुक्त होओ; किसी दूसरे के पास से कुछ न चाहो। मैं यह निश्चित रूप से कह सकता हूँ कि यदि तुम अपने जीवन की अतीत घटनाएँ याद करो तो देखोगे कि तुम सदैव व्यर्थ ही दूसरों से सहायता पाने की चेष्टा करते रहे, किन्तु कभी पा नहीं सके; जो कुछ सहायता पायी है, वह अपने अन्दर से ही थी। (व्या.जी.वे. ४८)

कभी 'नहीं' मत कहना, 'मैं नहीं कर सकता' यह कभी न कहना। ऐसा कभी नहीं हो सकता, क्योंकि तुम अनन्तस्वरूप हो। तुम्हारे स्वरूप की तुलना में देश-काल भी कुछ नहीं है। तुम्हारी जो इच्छा होगी वही कर सकते हो, तुम सर्वशक्तिमान हो। (व्या.जी.वे. १५)

तुम तो ईश्वर की सन्तान हो, अमर आनन्द के भागीदार हो, पवित्र और पूर्ण आत्मा हो। तुम इस मर्त्यभूमि पर देवता हो। तुम भला पापी! मनुष्य को पापी कहना ही पाप है, वह मानवस्वभाव पर घोर लांछन है। उठो! आओ! ऐ सिंहो! इस मिथ्या भ्रम को झटककर दूर फेंक दो कि तुम भेड़ हो, तुम तो जरा-मरण-रहित नित्यानन्दमय आत्मा हो। (शि.व. २५-२६)

ये संघर्ष, ये भूलें रहने से हर्ज भी क्या? मैंने गाय को कभी झूठ बोलते नहीं सुना, पर वह सदा गाय ही रहती है, मनुष्य कभी नहीं हो जाती। अतएव यदि बार बार असफल हो जाओ, तो भी क्या? कोई हानि नहीं, सहस्र बार इस आदर्श को हृदय में धारण करो और यदि सहस्र बार भी असफल हो जाओ, तो एक बार फिर प्रयत्न करो। (ज्ञा.यो. २५७)

मनुष्य को सदैव दुर्बलता की याद कराते रहना उसकी दुर्बलता का प्रतिकार नहीं है – बल्कि उसे अपने बल का स्मरण करा देना ही उसके प्रतिकार का उपाय है। उनमें जो बल पहले से ही विद्यमान है उसका उन्हें स्मरण कराओ। (व्या.जी.वे. १४)

उपनिषदों में यदि कोई एक ऐसा शब्द है जो वज्र-वेग से अज्ञान-राशि के ऊपर पतित होता है, उसे बिलकुल उड़ा देता है, तो वह है 'अभीः' – निर्भयता। (भा.वि. ७२)

तुम देख सकते हो कि मैंने उपनिषदों के अतिरिक्त कहीं अन्यत्र से

उद्धरण कभी नहीं दिये; उपनिषदों से भी केवल 'बल' का आदर्श ही। वेद एवं वेदान्त का समस्त सार तथा अन्य सब कुछ इस एक शब्द में निहित है। (सू.सु. : पृ. ४६)

हे मेरे युवकबन्धगुण, तुम बलवान बनो – यही तुम्हारे लिए मेरा उपदेश है। गीता पाठ करने की अपेक्षा तुम फुटबाल खेलने से स्वर्ग के अधिक समीप पहुँचोगे। मैंने अत्यन्त साहसपूर्वक ये बातें कहीं है और इनको कहना अत्यावश्यक है, कारण मैं तुमको प्यार करता हूँ। मैं जानता हूँ कि कंकड़ कहाँ चुभता है। मैंने कुछ अनुभव प्राप्त किया है। बलवान शरीर से और मजबूत पुट्ठों से तुम गीता को अधिक समझ सकोगे। (भा.वि. १७६)

मैं हरएक से यही एक प्रश्न करता हूँ – "क्या तुम बलवान हो? क्या तुम्हें बल प्राप्त होता है?" क्योंकि मैं जानता हूँ, एकमात्र सत्य ही बल प्रदान करता है। ... बल ही भवरोग की दवा है। (ज्ञा.यो. ३१०-११)

यह एक बड़ा सत्य है कि बल ही जीवन है और दुर्बलता ही मरण। बल ही अनन्त सुख है, चिरन्तन और शाश्वत जीवन है और दुर्बलता ही मृत्यु। (आ.मा. १२१)

सिद्ध होना हो, तो प्रबल अध्यवसाय चाहिए, मन का अपरिमित बल चाहिए। अध्यवसशील साधक कहता है, "मैं चुल्लू से समुद्र पी जाऊँगा। मेरी इच्छा मात्र से पर्वत चूर-चूर हो जायेंगे।" इस प्रकार का उत्साह, इस प्रकार का दृढ़ संकल्प लेकर कठोर साधना करो। उस परमपद की प्राप्ति अवश्य होगी। (रा.यो. ९३)

केवल मनुष्यों की आवश्यकता है; और सब कुछ हो जायगा, किन्तु आवश्यकता है वीर्यवान, तेजस्वी, श्रद्धासम्पन्न और अन्त तक कपटरहित नवयुवकों की। इस प्रकार के सौ नवयुवकों से संसार के सभी भाव बदल दिये जा सकते हैं। (भा.वि. १५२)

दुन्दुभी नगाड़े क्या देश में तैयार नहीं होते? तुरही भेरी क्या भारत में नहीं मिलती? वही सब गुरु-गम्भीर ध्वनि लड़कों को सुना। बचपन से जनाने बाजे सुन सुनकर, कीर्तन सुन सुनकर, देश लगभग स्त्रियों का देश

बन गया है। (वि.सं. ३४१)

केवल खा-पीकर आलसी जीवन जीने की अपेक्षा मरना ही अच्छा है; पराजित होकर जीने की अपेक्षा युद्ध-क्षेत्र में मरना श्रेयस्कर है। (ज्ञा.यो. १३१-३२)

अपनी बहादुरी तो दिखाओ। प्रिय भाई, मुक्ति न मिली तो न सही, दो-चार बार नरक ही जाना पड़े तो हानि ही क्या है? क्या यह बात असत्य है? –

मनसि वचसिकाये पुण्यपीयूषपूर्णाः
त्रिभुवनमुपकारश्रेणिभिः प्रीयमाणः।
परगुणपरमाणुं पर्वतीकृत्य केचित्
निजहृदि विकसन्तः सन्ति सन्तः क्रियन्तः।।* – भर्तृहरि

(पत्रा. १, ३९८-९९)

सभी के आन्तरिक प्रयास के बिना क्या कोई कार्य हो सकता है? "उद्योगिनं पुरुषसिंहमुपैति लक्ष्मी:" (उद्योगी पुरुषसिंह ही लक्ष्मी को प्राप्त करता है।) इत्यादि। पीछे की ओर देखने की आवश्यकता नहीं है – forward (आगे बढ़ो)। अनन्त शक्ति, अनन्त उत्साह, अनन्त साहस तथा अनन्त धैर्य चाहिए, तब कहीं महान् कार्य सम्पन्न होता है। (पत्रा. २, ६१)

निराश मत होओ; मार्ग बड़ा कठिन है – छूरे की धार पर चलने के समान दुर्गम; फिर भी निराश मत होओ; उठो, जागो और अपने परम आदर्श को प्राप्त करो। (ज्ञा.यो. १३२)

तू क्यों रोता है, भाई? तेरे लिए न मृत्यु है, न रोग। तू क्यों रोता है, भाई? तेरे लिए न दुःख है, न शोक। तू क्यों रोता है, भाई? तेरे विषय में परिणाम या मृत्यु की बात कही ही नहीं गयी। तू तो सत्स्वरूप है। ... अपने स्वरूप में प्रतिष्ठित हो जा। (ज्ञा.यो. ६७-६८)

* ऐसे साधु कितने हैं, जिनके कार्य मन तथा वाणी पुण्यरूप अमृत से परिपूर्ण हैं और जो विभिन्न उपकारों के द्वारा त्रिभुवन की प्रीति सम्पादन कर दूसरों के परमाणु तुल्य अर्थात् अत्यन्त स्वल्प गुण को भी पर्वतप्रमाण बढ़ाकर अपने हृदयों का विकास साधन करते हैं।

जिसका जो जी चाहे कहे, आपे में मस्त रहो – दुनिया तुम्हारे पैरों तले आ जाएगी, चिन्ता मत करो। लोग कहते हैं – इस पर विश्वास करो, उस पर विश्वास करो; मैं कहता हूँ – पहले अपने आप पर विश्वास करो। अपने पर विश्वास करो – सब शक्ति तुम में हैं – इसकी धारणा करो और शक्ति जगाओ – कहो, हम सब कुछ कर सकते है। ''नहीं नहीं कहने से साँप का विष भी असर नहीं करता।'' (पत्रा. १, १७९)

एक बार मैं काशी में किसी जगह जा रहा था, उस जगह एक तरफ भारी जलाशय और दूसरी तरफ ऊँची दीवाल थी। उस स्थान पर बहुत से बन्दर रहते थे। काशी के बन्दर बड़े दुष्ट होते हैं। अब उनके मस्तिष्क में यह विचार पैदा हुआ कि वे मुझे उस रास्ते पर से न जाने दें। वे विकट चीत्कार करने लगे और झट आकर मेरे पैरों से जकड़ने लगे। उनको निकट देखकर मैं भागने लगा, किन्तु मैं जितना ज्यादा जोर से दौड़ने लगा, वे उतनी ही अधिक तेजी से आकर मुझे काटने लगे। अन्त में उनके हाथ से छुटकारा पाना असम्भव प्रतीत हुआ – ठीक ऐसे ही समय एक अपरिचित मनुष्य ने आकर मुझे आवाज दी, ''बन्दरों का सामना करो।'' मैं भी जैसे ही उलटकर उनके सामने खड़ा हुआ, वैसे हीं वे पीछे हटकर भाग गये। समस्त जीवन में हमको यह शिक्षा लेनी होगी – जो कुछ भी भयानक है, उसका सामना करना पड़ेगा, साहसपूर्वक उसके सामने खड़ा होना पड़ेगा। (ध.र. ११-१२)

□□□

मन की शक्तियाँ

एक भाव लेकर सदा उसी में विभोर होकर रहो। सोते-जागते सब समय उसी को लेकर रहो। तुम्हाला मस्तिष्क, स्नायु, शरीर के सर्वांग उसी के विचार से पूर्ण रहें। दूसरे सारे विचार छोड़ दो। यही सिद्ध होने का उपाय है। ... यदि हम सचमुच स्वयं कृतार्थ होना और दूसरों का उद्धार करना चाहें, तो हमें और भी भीतर प्रवेश करना होगा। (रा.यो. ९१-९२)

संसार के सभी महापुरुष, साधु और सिद्ध पुरुषों ने क्या किया है? उन्होंने एक जन्म में ही, समय को कम करके, उन सब अवस्थाओं का भोग कर लिया है, जिनमें से होते हुए साधारण मानव करोड़ों जन्मों में मुक्त होता है। एक जन्म में ही वे अपनी मुक्ति का मार्ग तय कर लेते हैं। वे दूसरी कोई चिन्ता नहीं करते, दूसरी बात के लिए एक निमिषमात्र भी समय नहीं देते। उनका पल भर भी व्यर्थ नहीं जाता। इस प्रकार उनकी मुक्ति का समय घट जाता है। एकाग्रता का यही अर्थ है कि शक्तिसंचय की क्षमता को बढ़ाकर समय को घटा लेना। (रा.यो. ५८)

यह एकाग्रता जितनी अधिक होगी, उतना ही अधिक मनुष्य ज्ञानलाभ करेंगे, कारण, यही ज्ञानलाभ का एकमात्र उपाय है – ''नान्य: पन्था विद्यते अयनाय''। मोची यदि जरा अधिक मन लगाकर काम करे, तो वह जूतों को अधिक अच्छी तरह से पालिश कर सकेगा। रसोईया एकाग्र होने से भोजन को अच्छी तरह से पका सकेगा। अर्थ का उपार्जन हो, चाहे भगवद् आराधना हो – जिरा काम में जितनी एकाग्रता होगी, वह कार्य उतने ही अधिक अच्छे प्रकार से सम्पन्न होगा। द्वार के निकट जाकर बुलाने से या खटखटाने से जैसे द्वार खुल जाता है, उसी भाँति केवल इस उपाय से ही प्रकृति के भण्डार का द्वार खुलकर प्रकाश बाढ़ रूप में बाहर आता है। (ध.र. ४६)

मन की शक्तियों को एकाग्र करने के सिवा अन्य किस तरह संसार में ये समस्त ज्ञान उपलब्ध हुए हैं? यदि प्रकृति के द्वार पर आघात करना मालूम हो गया – उस पर कैसे धक्का देना चाहिए, यह ज्ञात हो गया, तो बस प्रकृति अपना सारा रहस्य खोल देती है। उस आघात की शक्ति और तीव्रता एकाग्रता से ही आती है। मानव-मन की शक्ति की कोई सीमा नहीं। वह जितना ही एकाग्र होता है, उतनी ही उसकी शक्ति एक लक्ष्य पर आती है; बस यही रहस्य है। (रा.यो. १४)

कोई शक्ति उत्पन्न नहीं की जाती, फिर भी उसको ठीक ठीक रास्ते में लगाया जा सकता है। इसलिए जो अद्भुत शक्तियाँ हम लोगों के हाथ में हैं उनको वश में करना हमें सीखना है और तत्पश्चात् प्रबल इच्छा-शक्ति द्वारा इस शक्ति को पशुशक्ति न होने देकर देवमय बना देना है। इसीसे मालूम पड़ता है कि पवित्रता ही समस्त धर्म और नीति की भित्ति है।

(स.रा.यो. १७)

मुक्त! हम एक क्षण तो स्वयं अपने मन पर शासन नहीं कर सकते, यही नहीं, किसी विषय पर उसे स्थिर नहीं कर सकते और अन्य सब से हटाकर किसी एक बिन्दु पर उसे केन्द्रित नहीं कर सकते! फिर भी हम अपने को मुक्त कहते हैं। जरा इस पर गौर तो करो! ... अनियन्त्रित और अनिर्दिष्ट मन हमें सदैव उत्तरोत्तर नीचे की ओर घसीटता रहेगा – हमें चीर डालेगा, हमें मार डालेगा; और नियन्त्रित तथा निर्दिष्ट मन हमारी रक्षा करेगा, हमें मुक्त करेगा। (भ.बु.स. ५८-५९)

मनुष्य और पशु में मुख्य अन्तर उनकी मन की एकाग्रता की शक्ति में है। किसी भी प्रकार के कार्य में सारी सफलता इसी एकाग्रता का परिणाम है। ... एकाग्रता की शक्ति में अन्तर के कारण ही एक मनुष्य दूसरे मनुष्य से भिन्न होता है। छोटे से छोटे आदमी की तुलना ऊँचे से ऊँचे आदमी से करो। अन्तर मन की एकाग्रता की मात्रा में होता है। (भ.बु.स. ६९)

साधारण मनुष्य अपनी विचार-शक्ति का नब्बे प्रतिशत अंश व्यर्थ नष्ट कर देता है और इसलिए वह निरन्तर भारी भूलें करता रहता है। प्रशिक्षित

मनुष्य अथवा मन कभी कोई भूल नहीं करता। (भ.बु.स. १३८)

छोटे दिलवालों से तुम किस काम की आशा रखते हो? – उनसे संसार में कुछ नहीं होगा। समुद्र पार करने के लिए लोहे का दिल चाहिए – तब कहीं लंका लाँघी जा सकती है। वज्र के गोले जैसा बनना होगा, जिससे कि पहाड़-पर्वत भेदा जा सके। (पत्रा. १, २८१)

शुभ और अशुभ विचार, प्रत्येक ही प्रबल शक्ति है, और वे जगद्व्यापी हैं। स्पन्दन बना रहता है, इसलिए कार्यरूप में परिणत होते तक विचार के रूप में बना रहता है। दृष्टान्त के तौर पर मनुष्य की भुजा में शक्ति तब तक अव्यक्त रहती है, जब तक वह कोई प्रहार नहीं करता; प्रहार करने पर वह शक्ति को क्रियाशीलता के रूप में परिणत करता है। हम शुभ और अशुभ विचारों के उत्तराधिकारी हैं। यदि हम अपने को निर्मल बना लें और अशुभ विचारों का निमित्त बना लें, तो ये हममें प्रवेश करेंगे। पवित्रात्मा व्यक्ति अशुभ विचारों को ग्रहण नहीं कर सकता। (भ.बु.स. १५४)

हमें दिखेगा कि मानवजाति के इतिहास में विश्व के कल्याण के लिए जो अवतार हुए हैं, उनका जीवनव्रत प्रारम्भ से ही निश्चित रहा है। अपने जीवन का सारा नक्शा, सारी योजना उनकी आँखों के सामने थी, और उनसे वे एक इंच भर भी न डिगे। इसका कारण यह है कि वे अपने जीवन में विश्व के लिए एक सन्देश लेकर आये थे। ... जब वे बोलते हैं, तो एक एक शब्द सीधे हृदय में प्रवेश करता है, वह बम के समान फूट पड़ता है और सुननेवाले पर अपना असीम प्रभाव जमा लेता है। निरी वाणी में क्या है, यदि वाणी के पीछे वक्ता की प्रचण्ड शक्ति न हो? तुम किस भाषा में बोलते हो और किस प्रकार अपनी भाषा में शब्दविन्यास करते हो – इससे किसीको क्या मतलब? तुम अच्छी, लच्छेदार, ओजपूर्ण भाषा का प्रयोग करते हो, या व्याकरण-सम्मत भाषा बोलते हो, अथवा तुम्हारी भाषा अलंकारपूर्ण है या नहीं – इससे भी किसी का क्या प्रयोजन? प्रश्न तो है – तुम्हारे पास लोगों को देने के लिए कुछ है या नहीं? यहाँ केवल कहानी-किस्से सुनने की बात नहीं है, बात है देने और लेने की। तुम्हारे

पास देने के लिए कुछ है? यही पहला और मुख्य प्रश्न है। यदि है, तो दो। (म.पु.जी.गा. ७८-८१)

कुछ भी करो, अपना पूरा मन, जी और प्राण उसमें लगा दो। मेरी एक बार एक संन्यासी से भेंट हुई थी – बड़े संयासी थे। वे अपने भोजन बनाने के पीतल के बर्तन ऐसे चमकाते थे कि सोने जैसे दमकने लगते थे। और यह कार्य वे उतनी ही सावधानी एवं तन्मयता से करते थे जैसे अपना पूजन और जप-ध्यान। (स्वा.वि.जी. – अं, २८४)

□□□

मानव : अपना भाग्यनिर्माता

मुहम्मद एक अच्छे आदमी हो गये हैं या बुद्ध भले थे इससे मुझे क्या मतलब? इससे क्या मेरे अपने भलेपन में या बुरेपन में कोई अन्तर पड़ जायगा? हमें अपने तई अपने लिए ही अपनी जिम्मेदारी पर भला होना चाहिए। और यह इसलिए नहीं कि पीछे कहीं, कभी कोई अच्छा हो चुका है। (स्वा.वि.सं. २७३)

अपनी वर्तमान अवस्था के जिम्मेदार हम ही हैं; और जो कुछ हम होना चाहें, उसकी शक्ति भी हमीं में है। यदि हमारी वर्तमान अवस्था हमारे ही पूर्व कर्मों का फल है; तो यह निश्चित है कि जो कुछ हम भविष्य में होना चाहते हैं, वह हमारे वर्तमान कार्यों द्वारा ही निर्धारित किया जा सकता है। अतएव हमें यह जान लेना आवश्यक है कि कर्म किस प्रकार किये जायँ। (क.यो. ७-८)

सब प्रकार के शरीरों में मानव-देह ही श्रेष्ठतम है; मनुष्य ही श्रेष्ठतम जीव है। मनुष्य सब प्रकार के निकृष्ट प्राणियों से – यहाँ तक कि देवादि से भी श्रेष्ठ है। मनुष्य से श्रेष्ठतर जीव और कोई नहीं। (रा.यो. ३३-३४)

'मनुष्य तभी तक मनुष्य कहा जा सकता है, जब तक वह प्रकृति से ऊपर उठने के लिए संघर्ष करता है।' और यह प्रकृति बाह्य और आन्तरिक दोनों है। ... और जब हम विश्व-इतिहास का मनन करते हैं, तो पाते हैं कि जब जब किसी राष्ट्र में ऐसे लोगों की संख्या में वृद्धि हुई है, तब तब उस राष्ट्र का अभ्युदय हुआ है; तथा जब भूमा या असीम – उसे उपयोगितावादी जो भी कहें – की खोज समाप्त हो जाती है, तो उस राष्ट्र का पतन होने लगता है। तात्पर्य यह है कि आध्यात्मिकता ही किसी भी जाति की शक्ति का प्रधान स्रोत है। जिस दिन से इसका ह्रास और भौतिकता का उत्थान

होने लगता है, उसी दिन से उस राष्ट्र की मृत्यु प्रारम्भ हो जाती है।
(ध.त. १२-१३)

यह दुनिया एक व्यायामशाला है, जहाँ हम अपने आपको बलवान बनाने के लिए आते हैं। (सू सु. ३)

समस्त स्वस्थ सामाजिक परिवर्तन अपने भीतर काम करने वाली आध्यात्मिक शक्तियों के व्यक्त रूप होते हैं; और यदि ये बलशाली और सुव्यवस्थित हों, तो समाज अपने आपको उस तरह से ढाल लेता है। हर व्यक्ति को अपनी मुक्ति की साधना स्वयं करनी होती है; कोई दूसरा रास्ता नहीं है। और यही बात राष्ट्रों के लिए भी सही है। ... संस्थाओं के दोष दिखाना आसान होता है, चूँकि सभी संस्थाएँ थोड़ी-बहुत अपूर्ण होती हैं, लेकिन मानवजाति का सच्चा कल्याण करनेवाला तो वह है, जो व्यक्तियों को, वे चाहे जिन संस्थाओं में रहते हों, अपनी अपूर्णताओं से ऊपर उठने में सहायता देता है। व्यक्ति के उत्थान से देश और संस्थाओं का भी उत्थान अवश्य होता है। (सू.सु. १६-१७)

तुमको अन्दर से बाहर विकसित होना है। कोई तुमको न सिखा सकता है, न आध्यात्मिक बना सकता है। तुम्हारी आत्मा के सिवा और कोई गुरु नहीं है। (सू.सु. ४)

साधारणत: मनुष्य अपने दोषों और भूलों को पड़ोसियों पर लादना चाहता है; यह न जमा, तो उन सब को ईश्वर के मत्थे मढ़ना चाहता है; और इसमें भी यदि सफल न हुआ, तो फिर भाग्य नामक एक 'भूत' की कल्पना करता है और उसी को उन सब के लिए उत्तरदायी बनाकर निश्चिन्त हो जाता है। पर प्रश्न यह है कि 'भाग्य' नामक यह वस्तु है क्या और रहती कहाँ है? हम जो कुछ बोते हैं, बस वही पाते हैं। हम स्वयं अपने भाग्य के विधाता हैं। हमारा भाग्य यदि खोटा हो, तो भी कोई दूसरा दोषी नहीं; और यदि हमारे भाग्य अच्छे हों, तो भी कोई दूसरा प्रशंसा का पात्र नहीं। वायु सर्वदा बह रही है। जिन जिन जहाजों के पाल खुले रहते हैं, वायु उन्हीं का साथ देती है और वे आगे बढ़ जाते हैं। पर जिनके पाल

नहीं खुले रहते, उन पर वायु नहीं लगती। तो क्या यह वायु का दोष है?
(ज्ञा.यो. १९९)

कहो कि जिन कष्टों को हम अभी झेल रहे हैं, वे हमारे ही किये हुए कर्मों के फल हैं। यदि यह मान लिया जाय, तो यह भी प्रमाणित हो जाता है कि वे फिर हमारे द्वारा नष्ट भी किये जा सकते हैं। जो कुछ हमने सृष्ट किया है, उसका हम ध्वंस भी कर सकते हैं; जो कुछ दूसरों ने किया है, उसका नाश हमसे कभी नहीं हो सकता। अतएव उठो, साहसी बनो वीर्यवान होओ। सब उत्तरदायित्व अपने कन्धे पर लो – यह याद रखो कि तुम स्वयं अपने भाग्य के निर्माता हो। तुम जो कुछ बल या सहायता चाहो, सब तुम्हारे ही भीतर विद्यमान है। (ज्ञा.यो. २०१)

अपने हाथों अपना भविष्य गढ़ डालो। 'गतस्य शोचना नास्ति' – सारा भविष्य तुम्हारे सामने पड़ा हुआ है। तुम सदैव यह बात स्मरण रखो कि तुम्हारा प्रत्येक विचार, प्रत्येक कार्य संचित रहेगा; और यह भी याद रखो कि जिस प्रकार तुम्हारे असत्-विचार और असत्-कार्य शेरों की तरह तुम पर कूद पड़ने की ताक में हैं, उसी प्रकार तुम्हारे सत्-विचार और सत्-कार्य भी हजारो देवताओं की शक्ति लेकर सर्वदा तुम्हारी रक्षा के लिए तैयार हैं। (ज्ञा.यो. २०१)

'क्यों?' – यह प्रश्न करने का हमें अधिकार नहीं; हमें तो अपना कार्य करते करते प्राण छोड़ने हैं ('Ours not to reason why, ours but to do and die')। साहसी बनो और इस बात का विश्वास रखो कि हमारे और तुम्हारे द्वारा महान् कार्य होने हैं। भगवान ने बड़े बड़े कार्य करने के लिए हमें निर्दिष्ट किया है और हम उन्हें करेंगे। (पत्रा. १, ९३)

दुर्भाग्य की बात है कि अधिकांश व्यक्ति इस जगत् में बिना किसी आदर्श के ही जीवन के इस अन्धकारमय पथ पर भटकते फिरते हैं। जिसका एक निर्दिष्ट आदर्श है, वह यदि एक हजार भूलें करे तो यह निश्चित है कि जिसका कोई भी आदर्श नहीं वह दस हजार भूलें करेगा। अतएव एक आदर्श रखना अच्छा है। (ज्ञा.यो. २५६)

मनुष्य प्रकृति के विरुद्ध युद्ध और संघर्ष करना प्रारम्भ करता है। वह अनेक भूलें करता है, कष्ट भोगता है। परन्तु अन्त में प्रकृति पर विजय प्राप्त करता है और अपनी मुक्ति प्राप्त कर लेता है। जब वह मुक्त हो जाता है, तब प्रकृति उसकी दासी बन जाती है। (भ.बु.स. १०९)

मैं इस सिद्धान्त से असहमत हूँ कि प्रकृति के नियमों का पालन ही मुक्ति है। मैं नहीं समझता कि इसका क्या अर्थ हो सकता है। मनुष्य की प्रगति के इतिहास के अनुसार, प्रकृति के उल्लंघन से ही उस प्रगति का निर्माण हुआ है। (ध.त. ११८)

दुनिया तभी पवित्र और अच्छी हो सकती है, जब हम स्वयं पवित्र और अच्छे हों। वह है कार्य और हम हैं उसके कारण। इसलिए आओ, हम अपने आपको पवित्र बना लें। आओ, हम अपने आपको पूर्ण बना लें। (आ.भा. १३०)

शिकायतों और झगड़ों से क्या लाभ? उससे हम कुछ अधिक अच्छे तो बन नहीं जायेंगे। जो अपने भाग्य में पड़ी हुई सामान्य वस्तु के लिए भी बड़बड़ाता है, वह हरएक वस्तु के लिए बड़बड़ायेगा। इस प्रकार सर्वदा बड़बड़ाते रहने से उसका जीवन दुःखमय हो जायगा और सर्वत्र असफलता ही उसके हाथ लगेगी। परन्तु जो मनुष्य अपने कर्तव्य को पूर्ण शक्ति से करता रहता है, वह ज्ञान एवं प्रकाश का भागी होगा और उसे अधिकाधिक ऊँचे कार्य करने के अवसर प्राप्त होंगे। (वि.प्र. ५-६)

इस संसार-यन्त्र से दूर न भागो, वरन् इसके अन्दर ही खड़े होकर कर्म का रहस्य सीख लो। भीतर रहकर कौशल से कर्म करके बाहर निकल आना सम्भव है। (क.यो. १३८)

हम लोग जो कुछ सोचते हैं, जो कुछ कार्य करते हैं वही कुछ समय बाद सूक्ष्म रूप धारण कर लेता है, मानो बीजरूप बन जाता है और वही इस शरीर में अव्यक्त रूप से इतना है, और फिर कुछ समय बाद प्रकाशित होकर फल भी देता है। मनुष्य का सारा जीवन इसी प्रकार गढ़ता है। वह अपना अदृष्ट स्वयं ही बनाता है। मनुष्य और किसी भी नियम से बद्ध नहीं

है। वह अपने ही नियम में, अपने ही जाल में अपने आप बँधा है। (व्या.जी.वे. ८१)

मेरा आदर्श अवश्य ही थोड़े से शब्दों में कहा जा सकता है और वह है – मनुष्यजाति को उसके दिव्य स्वरूप का उपदेश देना तथा जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में उसे प्रकट करने का उपाय बताना। (पत्रा. १, ४५०)

पवित्रता, धैर्य और अध्यवसाय, इन्हीं तीनों गुणों से सफलता मिलती है, और सर्वोपरि है प्रेम। (पत्रा. १, २१८)

सदा विस्तार करना ही जीवन है और संकोच मृत्यु। जो अपना ही स्वार्थ देखता है, आराम-तलब है, आलसी है, उसके लिए नरक में भी जगह नहीं है। (पत्रा. १, २२६)

मुझे विश्वास है कि ईश्वर उस व्यक्ति को क्षमा कर दे सकता है, जो अपनी बुद्धि का प्रयोग करता है और आस्था नहीं रखता, किन्तु वह उसे क्षमा नहीं करेगा, जो उसकी दी हुई शक्ति का उपयोग किये बिना ही विश्वास कर लेता है। ... हमें तर्क अवश्य करना चाहिए, और जब ये पैगम्बर और महापुरुष, जिनकी चर्चा सभी देशों की प्राचीन पुस्तकों में है, तर्क की कसौटी पर खरे उतरें, तभी इनमें विश्वास किया जाना चाहिए। जब हम अपने बीच ऐसे पैगम्बरों को देख लेंगे, तब अनायास ही हम उनमें विश्वास करने लगेंगे। तब हम समझ जायँगे कि वे पैगम्बर विलक्षण पुरुष नहीं थे, प्रत्युत कुछ विशिष्ट सिद्धान्तों की साकार प्रतिमा थे। (ध.त. ९५)

हम क्यों न लक्ष्य की ओर अग्रसर होने का प्रयत्न करें! असफलताओं से ही ज्ञान का उदय होता है। अनन्तकाल हमारे सम्मुख है – फिर हम हताश क्यों हों! दीवाल को देखो। क्या वह कभी मिथ्या भाषण करती है? पर उसकी उन्नति भी कभी नहीं होती – वह दीवाल की दीवाल ही रहती है। मनुष्य मिथ्या भाषण करता है, किन्तु उसमें देवता बनने की भी क्षमता है। नर नारायण भी बन सकता है। इसलिए हमें सदैव क्रियाशील – प्रयत्नशील बने रहना चाहिए। कोई परवाह नहीं यदि हम गलत रास्ते पर जा रहे हों, कुछ न करने से यह अच्छा ही है। गाय कभी झूठ नहीं बोलती – पर वह

सदैव गाय ही बनी रहती है। इसलिए क्रियाशील बनो, कुछ न कुछ करते रहो। (म.पु.जी.गा. ८६-८७)

केवल सत्कार्य करते रहो, सर्वदा पवित्र चिन्तन करो; असत् संस्कार रोकने का बस यही एक उपाय है। ऐसा कभी मत कहो कि अमुक के उद्धार की कोई आशा नहीं है। क्यों? इसलिए कि वह व्यक्ति केवल एक विशिष्ट प्रकार के चरित्र का – कुछ अभ्यासों की समष्टि का द्योतक मात्र है, और ये अभ्यास नये और सत् अभ्यास से दूर किये जा सकते हैं। चरित्र बस पुनः-पुनः अभ्यास की समष्टि मात्र है और इस प्रकार का पुनः-पुनः अभ्यास ही चरित्र का पुनर्गठन कर सकता है। ... ब्रह्मचर्यवान मनुष्य के मस्तिष्क में प्रबल शक्ति – महती इच्छाशक्ति संचित रहती है। (रा.यो. १४३, २२७)

कठिनाई लगातार अभ्यास द्वारा दूर की जा सकती है। हमें यह ध्यान रखना चाहिए कि जब तक हम अपने आपको दुर्बल न बनायें, तब तक हमको कुछ नहीं हो सकता। (आ.मा. १२७-१२८)

एक बार मैं हिमालय के अंचल में यात्रा कर रहा था और सामने लम्बी सड़क का विस्तार था। हम गरीब साधुओं को कोई ढोनेवाला नहीं मिल सकता था, इसलिए पूरा मार्ग पैदल चलकर पार करना था। हम लोगों के साथ एक वृद्ध था। ... उसने कहा, "ओह, महाशय, इसे कैसे पार किया जाय, मैं अब जरा भी नहीं चल सकता, मेरी छाती फट जायगी।" मैंने उससे कहा, "नीचे अपने पाँवों को देखिये।" उसने ऐसा ही किया, और मैंने कहा, "आपके पाँवों के नीचे जो सड़क है, उसे आप पार कर चुके हैं और आपके सामने जो सड़क दिखायी पड़ रही है वह भी वही है; और वह भी शीघ्र आपके पाँवों के नीचे आ जायगी।" उच्चतम वस्तुएँ तुम्हारे पाँवों के तले हैं, क्योंकि तुम दिव्य नक्षत्र हो। (भ.बु.स. १००-१०१)

संस्कृत में कहावत है : 'जो कापुरुष और मूर्ख है, वह कहता है यह भाग्य है।' लेकिन वह बलवान पुरुष है, जो खड़ा हो जाता है और कहता है, 'मैं अपने भाग्य का निर्माण करूँगा।' जो लोग बूढ़े होने लगते हैं, वे भाग्य की बातें करते हैं। साधारणतः जवान आदमी ज्योतिष का सहारा

नहीं लेते। (भ.बु.स. ९६)

यदि तुम सचमुच किसी मनुष्य के चरित्र को जाँचना चाहते हो, तो उसके बड़े कार्यों पर से उसकी जाँच मत करो। एक मूर्ख भी किसी विशेष अवसर पर बहादूर बन जाता है। मनुष्य के अत्यन्त साधारण कार्यों की जाँच करो, और असल में वे ही ऐसी बातें हैं, जिनसे एक महान् पुरुष के वास्तविक चरित्र का पता लग सकता है। आकस्मिक अवसर तो छोटेसे छोटे मनुष्य को भी किसी न किसी प्रकार का बड़प्पन दे देते हैं। परन्तु वास्तव में बड़ा तो वही है, जिसका चरित्र सदैव और सब अवस्थाओं में महान् रहता है। (क.यो. ५)

बिना किसी बदले की आशा से संसार में भेजा गया प्रत्येक शुभ विचार संचित होता जायगा – वह हमारे पैरों में से एक बेड़ी को काट देगा और हमें अधिकाधिक पवित्र बनाता जायगा, जब तक कि हम पवित्रतम मनुष्य के रूप में परिणत नहीं हो जाते। (क.यो. १४०)

यदि तुम अपने हृदय से ईर्ष्या और घृणा का भाव चारों ओर बाहर भेजो, तो वह चक्रवृद्धिव्याज सहित तुम पर आ गिरेगा। दुनिया की कोई भी ताकत उसे रोक न सकेगी। यदि तुमने एक बार उस शक्ति को बाहर भेज दिया, तो फिर निश्चित जानो, तुम्हें उसका प्रतिघात सहन करना ही पड़ेगा। यह स्मरण रहने पर तुम कुकर्मों से बचे रह सकोगे। (रा.यो. २२६)

जो कुछ प्रकृति के विरुद्ध लड़ाई करता है वह चेतना है। उसमें ही चैतन्य का विकास है। यदि एक चींटी को मारने लगो तो देखोगे कि वह भी अपनी जीवनरक्षा के लिए एक बार लड़ाई करेगी। जहाँ चेष्टा या पुरुषकार है, जहाँ संग्राम है, वहीं जीवन का चिह्न और चैतन्य का प्रकाश है। (वि.सं. १२)

मनुष्य ही तो रुपया पैदा करता है। रुपये से मनुष्य पैदा होता है यह भी कभी कहीं सुना है? यदि तू अपने मन और मुख को एक कर सके तथा वचन और क्रिया को एक कर सके तो धन आप ही तेरे पास जलवत् बह आयगा। (वि.सं. १४)

सदैव गाय ही बनी रहती है। इसलिए क्रियाशील बनो; कुछ न कुछ करते रहो। (म.पु.जी.गा. ८६-८७)

केवल सत्कार्य करते रहो, सर्वदा पवित्र चिन्तन करो; असत् संस्कार रोकने का बस यही एक उपाय है। ऐसा कभी मत कहो कि अमुक के उद्धार की कोई आशा नहीं है। क्यों? इसलिए कि वह व्यक्ति केवल एक विशिष्ट प्रकार के चरित्र का – कुछ अभ्यासों की समष्टि का द्योतक मात्र है, और ये अभ्यास नये और सत् अभ्यास से दूर किये जा सकते हैं। चरित्र बस पुनः-पुनः अभ्यास की समष्टि मात्र है और इस प्रकार का पुनः-पुनः अभ्यास ही चरित्र का पुनर्गठन कर सकता है। ... ब्रह्मचर्यवान मनुष्य के मस्तिष्क में प्रबल शक्ति – महती इच्छाशक्ति संचित रहती है। (रा.यो. १४३, २२७)

कठिनाई लगातार अभ्यास द्वारा दूर की जा सकती है। हमें यह ध्यान रखना चाहिए कि जब तक हम अपने आपको दुर्बल न बनायें, तब तक हमको कुछ नहीं हो सकता। (आ.मा. १२७-१२८)

एक बार मैं हिमालय के अंचल में यात्रा कर रहा था और सामने लम्बी सड़क का विस्तार था। हम गरीब साधुओं को कोई ढोनेवाला नहीं मिल सकता था, इसलिए पूरा मार्ग पैदल चलकर पार करना था। हम लोगों के साथ एक वृद्ध था। ... उसने कहा, "ओह, महाशय, इसे कैसे पार किया जाय, मैं अब जरा भी नहीं चल सकता, मेरी छाती फट जायगी।" मैंने उससे कहा, "नीचे अपने पाँवों को देखिये।" उसने ऐसा ही किया, और मैंने कहा, "आपके पाँवों के नीचे जो सड़क है, उसे आप पार कर चुके हैं और आपके सामने जो सड़क दिखायी पड़ रही है वह भी वही है; और वह भी शीघ्र आपके पाँवों के नीचे आ जायगी।" उच्चतम वस्तुएँ तुम्हारे पाँवों के तले हैं, क्योंकि तुम दिव्य नक्षत्र हो। (भ.बु.स. १००-१०१)

संस्कृत में कहावत है : 'जो कापुरुष और मूर्ख है, वह कहता है यह भाग्य है।' लेकिन वह बलवान पुरुष है, जो खड़ा हो जाता है और कहता है, 'मैं अपने भाग्य का निर्माण करूँगा।' जो लोग बूढ़े होने लगते हैं, वे भाग्य की बातें करते हैं। साधारणतः जवान आदमी ज्योतिष का सहारा

नहीं लेते। (भ.बु.स. ९६)

यदि तुम सचमुच किसी मनुष्य के चरित्र को जाँचना चाहते हो, तो उसके बड़े कार्यों पर से उसकी जाँच मत करो। एक मूर्ख भी किसी विशेष अवसर पर बहादूर बन जाता है। मनुष्य के अत्यन्त साधारण कार्यों की जाँच करो, और असल में वे ही ऐसी बातें हैं, जिनसे एक महान् पुरुष के वास्तविक चरित्र का पता लग सकता है। आकस्मिक अवसर तो छोटेसे छोटे मनुष्य को भी किसी न किसी प्रकार का बड़प्पन दे देते हैं। परन्तु वास्तव में बड़ा तो वही है, जिसका चरित्र सदैव और सब अवस्थाओं में महान् रहता है। (क.यो. ५)

बिना किसी बदले की आशा से संसार में भेजा गया प्रत्येक शुभ विचार संचित होता जायगा – वह हमारे पैरों में से एक बेड़ी को काट देगा और हमें अधिकाधिक पवित्र बनाता जायगा, जब तक कि हम पवित्रतम मनुष्य के रूप में परिणत नहीं हो जाते। (क.यो. १४०)

यदि तुम अपने हृदय से ईर्ष्या और घृणा का भाव चारों ओर बाहर भेजो, तो वह चक्रवृद्धिव्याज सहित तुम पर आ गिरेगा। दुनिया की कोई भी ताकत उसे रोक न सकेगी। यदि तुमने एक बार उस शक्ति को बाहर भेज दिया, तो फिर निश्चित जानो, तुम्हें उसका प्रतिघात सहन करना ही पड़ेगा। यह स्मरण रहने पर तुम कुकर्मों से बचे रह सकोगे। (रा.यो. २२६)

जो कुछ प्रकृति के विरुद्ध लढ़ाई करता है वह चेतना है। उसमें ही चैतन्य का विकास है। यदि एक चींटी को मारने लगो तो देखोगे कि वह भी अपनी जीवनरक्षा के लिए एक बार लड़ाई करेगी। जहाँ चेष्टा या पुरुषकार है, जहाँ संग्राम है, वहीं जीवन का चिह्न और चैतन्य का प्रकाश है। (वि.सं. १२)

मनुष्य ही तो रुपया पैदा करता है। रुपये से मनुष्य पैदा होता है यह भी कभी कहीं सुना है? यदि तू अपने मन और मुख को एक कर सके तथा वचन और क्रिया को एक कर सके तो धन आप ही तेरे पास जलवत् बह आयगा। (वि.सं. १४)

इस जगत् में श्रेय का मार्ग सब से दुर्गम और पथरीला है। यह आश्चर्य की बात है कि बहुत से लोग सफलता प्राप्त करते हैं; पर इसमें आश्चर्य नहीं कि बहुत से लोग असफल होते हैं। सहस्रों ठोकरें खाकर चरित्र का संगठन होता है। (पत्रा. २, १५)

हर काम को तीन अवस्थाओं में से गुजरना होता है – उपहास, विरोध और फिर स्वीकृति। जो मनुष्य अपने समय से आगे विचार करता है, लोग उसे निश्चय ही गलत समझते हैं। इसलिए विरोध और अत्याचार हम सहर्ष स्वीकार करते हैं; परन्तु मुझे दृढ़ और पवित्र होना चाहिए और भगवान में अपरिमित विश्वास रखना चाहिए, तब ये सब लुप्त हो जायेंगे। (पत्रा. १, ३३५)

प्रत्येक आत्मा अव्यक्त ब्रह्म है। बाह्य एवं अन्त: प्रकृति को वशीभूत करके आत्मा के इस ब्रह्मभाव को व्यक्त करना ही जीवन का चरम लक्ष्य है। कर्म, उपासना, मन:संयम अथवा ज्ञान, इनमें से एक, एक से अधिक या सभी उपायों का सहारा लेकर अपने ब्रह्मभाव को व्यक्त करो और मुक्त हो जाओ। बस यही धर्म का सर्वस्व है। मत, अनुष्ठान-पद्धति, शास्त्र, मन्दिर अथवा अन्य बाह्य क्रियाकलाप तो उसके गौण अंग-प्रत्यंग मात्र हैं। (रा.यो. २१९)

सब के पास जा जा कर कहो, "उठो, जागो और सोओ मत, सम्पूर्ण अभाव और दु:ख नष्ट करने की शक्ति तुम्हीं में है; इस बात पर विश्वास करने ही से वह शक्ति जाग उठेगी।" ... यदि तुम भी सोच सको कि हमारे अन्दर अनन्त शक्ति, अपार ज्ञान, अदम्य उत्साह वर्तमान है, और अपने भीतर की शक्ति को जगा सको तो तुम भी मेरे समान हो जाओगे। (वि.सं. १३)

□□□

शिक्षा एवं समाज

शिक्षा का अर्थ है उस पूर्णता को व्यक्त करना जो सब मनुष्यों में पहले से विद्यमान है। (पत्रा. १, ११४)

शिक्षा क्या है? क्या वह पुस्तक-विद्या है? नहीं! क्या वह नाना प्रकार का ज्ञान है? नहीं, यह भी नहीं। जिस संयम के द्वारा इच्छाशक्ति का प्रवाह और विकास वश में लाया जाता है और वह फलदायक होता है, वह शिक्षा कहलाती है। (पत्रा. २, २९०-९१)

मेरे विचार से तो शिक्षा का सार मन की एकाग्रता प्राप्त करना है, तथ्यों का संकलन नहीं। यदि मुझे फिर से अपनी शिक्षा आरम्भ करनी हो और इसमें मेरा वश चले, तो मैं तथ्यों का अध्ययन कदापि न करूँ। मैं मन की एकाग्रता और अनासक्ति का सामर्थ्य बढ़ाता और उपकरण के पूर्णतया तैयार होने पर उससे इच्छानुसार तथ्यों का संकलन करता। (भ.बु.स. ७१)

जो शिक्षा साधारण व्यक्ति को जीवन-संग्राम में समर्थ नहीं बना सकती, जो मनुष्य में चरित्र-बल, परहित-भावना तथा सिंह के समान साहस नहीं ला सकती, वह भी कोई शिक्षा है? जिस शिक्षा के द्वारा जीवन में अपने पैरों पर खड़ा हुआ जाता है, वही है शिक्षा। (वि.सं. १७५)

शिक्षा का मतलब यह नहीं है कि तुम्हारे दिमाग में ऐसी बहुत सी बातें इस तरह ठूँस दी जायँ, जो आपस में लड़ने लगे और तुम्हारा दिमाग उन्हें जीवन भर में हजम न कर सके। जिस शिक्षा से हम अपना जीवन-निर्माण कर सकें, मनुष्य बन सकें, चरित्रगठन कर सकें और विचारों का सामंजस्य कर सकें, वही वास्तव में शिक्षा कहलाने योग्य है। यदि तुम पाँच ही भावों को हजम कर तदनुसार जीवन और चरित्र गठित कर सके हो तो तुम्हारी शिक्षा उस आदमी की अपेक्षा बहुत अधिक है, जिसने एक पूरी की पूरी लाइब्रेरी ही कण्ठस्थ कर ली है। (भा.वि. २५२-२५३)

ज्ञान मनुष्य में अन्तर्निहित ही है। कोई भी ज्ञान बाहर से नहीं आता, सब अन्दर ही है। ... हम कहते हैं कि न्यूटन ने गुरुत्वाकर्षण का आविष्कार किया। तो क्या वह आविष्कार कहीं एक कोने में बैठा हुआ न्यूटन की प्रतीक्षा कर रहा था? नहीं, वह उसके मन में ही था। जब समय आया तो उसने उसे ढूँढ़ निकाला। संसार ने जो कुछ ज्ञान लाभ किया है, वह मन से ही निकला है। विश्व का असीम पुस्तकालय तुम्हारे मन में ही विद्यमान है। बाह्य जगत् तो तुम्हें अपने मन को अध्ययन में लगाने के लिए उद्दीपक तथा सहायक मात्र है; परन्तु प्रत्येक समय तुम्हारे अध्ययन का विषय तुम्हारा मन ही है। (क.यो. २-३)

हरएक व्यक्ति हुकुमत जताना चाहता है, पर आज्ञा पालन करने के लिए कोई भी तैयार नहीं है। और यह सब इसलिए है कि प्राचीन काल के उस अद्भुत ब्रह्मचर्य आश्रम का अब पालन नहीं किया जाता। पहले आदेश पालन करना सीखो, आदेश देना फिर स्वयं आ जायगा। पहले सर्वदा दास होना सीखो, तभी तुम प्रभु हो सकोगे। (भा.वि. ४१)

केवल शिक्षा! शिक्षा! शिक्षा! यूरोप के बहुतेरे नगरों में घूमकर और वहाँ के गरीबों के भी अमन-चैन और विद्या को देखकर हमारे गरीबों की बात याद आती थी और मैं आँसू बहाता था। यह अन्तर क्यों हुआ? जवाब पाया – शिक्षा! (पत्रा. २, ७४)

हमें जो कुछ चाहिए वह यह श्रद्धा ही है। दुर्भाग्यवश भारत से इसका प्राय: लोप ही हो गया है, और हमारी वर्तमान दुर्दशा का कारण भी यही है। एकमात्र इस श्रद्धा के भेद से ही मनुष्य-मनुष्य में अन्तर पाया जाता है। इसका और दुसरा कारण नहीं। यह श्रद्धा ही है, जो एक मनुष्य को बड़ा और दूसरे को दुर्बल और छोटा बना देती है। (भा.वि. २७७)

हमारे जातीय शोणित में एक प्रकार के भयानक रोग का बीज समा रहा है, और वह है प्रत्येक विषय हो हँसकर उड़ा देना – गाम्भीर्य का अभाव। इस दोष का सम्पूर्ण रूप से त्याग करो। वीर होओ, श्रद्धासम्पन्न होओ, दूसरी बातें उनके पीछे आप ही आयेंगी – उन्हें उनका अनुसरण करना ही होगा। (भा.वि. २७७)

अपने निम्न श्रेणिवालों के प्रति हमारा एकमात्र कर्तव्य है – उनको शिक्षा देना, उनके खोये हुए व्यक्तित्व के विकास के लिए सहायता करना। उनमें विचार पैदा कर दो – बस, उन्हें उसी एक सहायता का प्रयोजन है, और शेष सब कुछ इसके फलस्वरूप आप ही आ जायगा। हमें केवल रासायनिक सामग्रियों को इकट्ठा भर कर देना है, उनका निर्दिष्ट आकार प्राप्त करना – रवा बँध जाना तो प्राकृतिक नियमों से ही साधित होगा। ... अच्छा, यदि पहाड़ मुहम्मद के पास न आये, तो मुहम्मद ही पहाड़ के पास क्यों न जायँ? यदि गरीब लड़का शिक्षा के मन्दिर तक न आ सके, तो शिक्षा को ही उसके पास जाना चाहिए। (पत्रा. १, १३४-३५)

हमें ऐसी शिक्षा की आवश्यकता है जिससे चरित्र-निर्माण हो, मानसिक शक्ति बढ़े, बुद्धि विकसित हो, और मनुष्य अपने पैरों पर खड़ा होना सीखे। (वि.सा. ४९-५०)

शिक्षा क्या वह है जिसने निरन्तर इच्छाशक्ति को बलपूर्वक पीढ़ी दर पीढ़ी रोककर प्राय: नष्ट कर दिया है, जिसके प्रभाव से नये विचारों की तो बात ही जाने दीजिये, पुराने विचार भी एक एक करके लोप होते चले जा रहे हैं, क्या वह शिक्षा है जो मनुष्य को धीरे धीरे यन्त्र बना रही है? जो स्वयंचालित यन्त्र के समान सुकर्म करता है, उसकी अपेक्षा अपनी स्वतन्त्र इच्छाशक्ति और बुद्धि के बल से अनुचित कर्म करनेवाला मेरे विचार से धन्य है। (पत्रा. २, २९१)

आज हमें आवश्यकता है वेदान्तयुक्त पाश्चात्य विज्ञान की, ब्रह्मचर्य के आदर्श और श्रद्धा तथा आत्मविश्वास की। ... वेदान्त का सिद्धान्त है कि मनुष्य के अन्तर में – एक अबोध शिशु में भी – ज्ञान का समस्त भण्डार निहित है, केवल उसके जागृत होने की आवश्यकता है, और यही आचार्य का काम है। ... पर इस सब का मूल है धर्म – वही मुख्य है। धर्म तो भात के समान है, शेष सब वस्तुएँ तरकारी और चटनी जैसी हैं। केवल तरकारी और चटनी खाने से अपथ्य हो जाता है, और केवल भात खाने से भी। (वि.सा. ४)

देखा, एकमात्र ब्रह्मचर्य का ठीक ठीक पालन कर सकने पर सभी

विद्याएँ बहुत ही कम समय में हस्तगत हो जाती हैं – मनुष्य श्रुतिधर, स्मृतिधर बन जाता है। ब्रह्मचर्य के अभाव से ही हमारे देश का सब कुछ नष्ट हो गया। (वि.सा. ३२७)

मेरा विश्वास है कि गुरु के साक्षात् सम्पर्क रखते हुए, गुरु-गृह में निवास करने से ही यथार्थ शिक्षा की प्राप्ति होती है। गुरु से साक्षात् सम्पर्क हुए बिना किसी प्रकार की शिक्षा नहीं हो सकती। हमारे वर्तमान विश्वविद्यालयों की ही बात लीजिए। उनका आरम्भ हुए पचास वर्ष हो गये (यह १८९७ में मद्रास में कहा गया था), पर फल क्या मिला है? वे एक भी मौलिक-भाव संपन्न व्यक्ति उत्पन्न नहीं कर सके। वे परिक्षा लेने वाली संस्थाएँ मात्र हैं! साधारण जनता की जागृति और उसके कल्याण के लिए स्वार्थ-त्याग की मनोवृत्ति का हममें थोड़ा भी विकास नहीं हुआ है। (स्वा.वि.वा. ७६)

सत्य, प्राचीन अथवा आधुनिक किसी समाज का सम्मान नहीं करता। समाज को ही सत्य का सम्मान करना पड़ेगा, अन्यथा समाज ध्वंस हो जाय, कोई हानि नहीं। सत्य ही हमारे सारे प्राणियों और समाजों का मूल आधार है, अतः सत्य कभी भी समाज के अनुसार अपना गठन नहीं करेगा। ... वही समाज सब से श्रेष्ठ है, जहाँ सर्वोच्च सत्यों को कार्य में परिणत किया जा सकता है – यही मेरा मत है। और यदि समाज इस समय उच्चतम सत्यों को स्थान देने में समर्थ नहीं है, तो उसे इस योग्य बनाओ। और जितना शीघ्र तुम ऐसा कर सको, उतना ही अच्छा। (ज्ञा.यो. ६१-६३)

मैं कहता हूँ – मुक्त करो; जहाँ तक हो सके लोगों के बन्धन खोल दो। ... जब तुम सुख की कामना समाज के लिए त्याग सकोगे तब तुम भगवान बुद्ध बन जाओगे, तब तुम मुक्त हो जाओगे। (पत्रा. २, २९२)

प्रत्येक मनुष्य एवं प्रत्येक राष्ट्र को बड़ा बनाने के लिए तीन बातें आवश्यक हैं –

१. सौजन्य की शक्ति में दृढ़ विश्वास।

२. ईर्ष्या और सन्देह का अभाव।

३. जो सन्मार्ग पर चलने में और सत्कर्म करने में संलग्न हो, उनकी सहायता करना। (पत्रा. १, १०८)

यदि आपका आदर्श जड़ है, तो आप भी जड़ हो जायँगे। स्मरण रहे, हमारा आदर्श है, परमात्मा। एकमात्र वे ही अविनाशी हैं – अन्य किसी का अस्तित्व नहीं है, और उन परमात्मा की भाँति हम भी सदा विनाशहीन हैं। (भा.ना. ९२)

हिन्दू का खाना धार्मिक, उनका पीना धार्मिक, उनकी नींद धार्मिक, उसकी चाल-ढाल धार्मिक, उसके विवाहादि धार्मिक, यहाँ तक कि उसकी डकैती करने की प्रेरणा भी धार्मिक है। ... हरएक राष्ट्र का विश्व के लिए एक विशिष्ट कार्य होता है, और जब तक वह आक्रान्त नहीं होता, तब तक वह राष्ट्र जीवित रहता है – चाहे कोई भी संकट क्यों न आये। पर ज्यों ही कार्य नष्ट हुआ कि राष्ट्र भी ढह जाता है। (मे.जी.ध्ये. ५-६)

क्या तुमने इतिहास में नहीं पढ़ा है कि देश के मृत्यु का चिह्न अपवित्रता या चरित्रहीनता के भीतर से होकर आया है – जब यह किसी जाति में प्रवेश कर जाती है, तो समझना कि उसका विनाश निकट आ गया है। (ज्ञा.यो. ३२)

इस समय हम पशुओं की अपेक्षा कोई अधिक नीतिपरायण नहीं हैं। केवल समाज के अनुशासन के भय से हम कुछ गड़बड़ नहीं करते। यदि समाज आज कह दे कि चोरी करने से अब दण्ड नहीं मिलेगा, तो हम इसी समय दूसरे की सम्पत्ति लूटने को छूट पड़ेंगे। पुलिस ही हमें सच्चरित्र बनाती है। सामाजिक प्रतिष्ठा के लोप की आशंका ही हमें नीतिपरायण बनाती है, और वस्तुस्थिती तो यह है कि हम पशुओं से कुछ ही अधिक उन्नत हैं। (ज्ञा.यो. २७५)

अधिकांश सम्प्रदाय अल्पजीवी और पानी के बुदबुदे के समान क्षणभंगुर होते हैं, क्योंकि बहुधा उनके प्रणेताओं में चरित्रबल नहीं होता। पूर्ण प्रेम और प्रतिक्रिया न करनेवाले हृदय से चरित्र का निर्माण होता है। जब नेता में चरित्र नहीं होता, तब उसमें निष्ठा की सम्भावना नहीं होती। चरित्र की पूर्ण पवित्रता से स्थायी विश्वास और निष्ठा अवश्य उत्पन्न होती है। कोई विचार लो, उसमें अनुरक्त हो जाओ, धैर्यपूर्वक प्रयत्न करते रहो, तो तुम्हारे लिए सूर्योदय अवश्य होगा। (भ.बु.स. १५५)

हमसे पूछा जाता है : 'आपके धर्म से समाज का क्या लाभ है?' समाज को सत्य की कसौटी बनाया गया है। यह तो बड़ी तर्कहीनता है। समाज केवल विकास की एक अवस्था है, जिसमें होकर हम गुजर रहे हैं। ... यदि सामाजिक अवस्था स्थायी होती है, तो वह शिशु ही बनी रहने जैसी बात होती। पूर्ण मनुष्य शिशू नहीं हो सकता; यह शब्द – 'मनुष्य-शिशु' – ही विरोधाभासी है – इसलिए कोई समाज पूर्ण नहीं हो सकता। मनुष्य को ऐसी आरम्भिक अवस्थाओं से आगे बढ़ना होगा और वह बढ़ेगा। ... मेरे गुरुदेव कहा करते थे, "तुम स्वयं अपने कमल के फूल को खिलने में सहायता क्यों नहीं देते? भौंरे तब अपने आप आयेंगे।"

(ना.भ.प्र.आ. २१)

दूसरों में बुराई न देखो। बुराई अज्ञान है, दुर्बलता है। लोगों को यह बताने से क्या लाभ कि वे दुर्बल हैं। आलोचना और खण्डन से कोई लाभ नहीं होता। हमें उन्हें कुछ ऊँची वस्तु देनी चाहिए; उन्हें उनके गरिमामयी स्वरूप की, उनके जन्मसिद्ध अधिकार की बात बताओ। (ना.भ.प्र.आ. १७)

मैं 'सुधार नहीं कहता, अपितु कहता हूँ – 'बढ़े चलो।' कोई वस्तु इतनी बुरी नहीं है कि उसका सुधार या पुनर्निर्माण करना पड़े। अनुकूलनक्षमता (Adaptability) ही जीवन का एकमात्र रहस्य है – उसे विकसित करनेवाला अन्तर्निहित तत्त्व है। बाह्य शक्तियों द्वारा आत्मा को दमित करने की चेष्टा के विरुद्ध आत्मा के प्रयास का परिणाम ही अनुकूलन या समायोजन है। जो अपना सर्वोत्तम अनुकूलन कर लेता है, वह सर्वाधिक दीर्घजीवी होता है। यदि मैं उपदेश न भी दूँ, तो भी समाज परिवर्तित हो रहा है, वह परिवर्तित अवश्य होगा। (वि.प्र. ११६)

और किसी बात की आवश्यकता नहीं, आवश्यकता है केवल प्रेम, अकपटता एवं धैर्य की। जीवन का अर्थ ही वृद्धि, अर्थात् विस्तार, यानी प्रेम है। इसलिए प्रेम ही जीवन है, यही जीवन का एकमात्र गतिनियामक है और स्वार्थपरता ही मृत्यु है। इहलोक एवं परलोक में यही बात सत्य है। यदि कोई कहे कि देह के विनाश के पीछे और कुछ नहीं रहता तो भी उसे यह मानना ही पड़ेगा कि स्वार्थपरता ही यथार्थ मृत्यु है। परोपकार

ही जीवन है, परोपकार न करना ही मृत्यु है। जितने नरपशु तुम देखते हो उनमें नब्बे प्रतिशत मृत हैं, वे प्रेत हैं; क्योंकि, ऐ बच्चो, जिसमें प्रेम नहीं है वह तो मृतक है। (पत्रा. १, २०९-१०)

एक ओर नया भारत कहता है कि "पाश्चात्य भाव, भाषा, खान-पान, वेष-भूषा और रीति का अवलम्बन करने से ही हमलोग पाश्चात्य जातियों की भाँति शक्तिमान हो सकेंगे।" दूसरी ओर प्राचीन भारत कहा है कि "मूर्ख! नकल करने से भी कहीं दूसरों का भाव अपना हुआ है? बिना उपार्जन किये कोई वस्तु अपनी नहीं होती। क्या सिंह की खाल पहनकर गधा कहीं सिंह हुआ है?" (व.भा. ४२-४३)

एक और नवीन भारत कहता है कि "पाश्चात्य जातियाँ जो कुछ कर रही हैं, वही अच्छा है। अच्छा न होता तो वे ऐसी बलवान हुई कैसे?" दूसरी ओर प्राचीन भारत कहता है कि "बिजली की चमक तो खूब होती है, पर क्षणिक होती है। बालको! तुम्हारी आँखे चौंधिया रही हैं, सावधान!"

(व.भा. ४३)

उपनिषद्युगीन सुदूर अतीत में, हमने इस संसार को एक चुनौती दी थी। 'न प्रजया धनेन त्यागैनैके अमृतत्वमानशुः' – 'न तो सन्तति द्वारा और न सम्पत्ति द्वारा, वरन् केवल त्याग द्वारा ही अमृतत्व की उपलब्धि होती है।' एक के बाद दूसरी जाति ने इस चुनौती को स्वीकार किया और अपनी शक्ति भर संसार की इस पहेली को कामनाओं के स्तर पर सुलझाने का प्रयत्न किया। वे सब की सब अतीत में तो असफल रही हैं – पुरानी जातियाँ तो शक्ति और स्वर्ण की लोलुपता से उद्भुत पापाचार और दैन्य के बोझ से दबकर पिस-पिट गयीं और नयी जातियाँ गर्त में गिरने को डगमगा रही हैं। इस प्रश्न का तो हल करने के लिए अभी शेष ही है कि शान्ति की जय होगी या युद्ध की, सहिष्णुता की विजय होगी या असहिष्णुता की, शुभ की विजय होगी या अशुभ की, शारीरिक शक्ति की विजय होगी या बुद्धि की, सांसारिकता की विजय होगी या आध्यात्मिक की। हमने तो युगों पहले इस प्रश्न का अपना हल ढूँढ़ लिया था। ... हमारा समाधान है ... असांसारिकता – त्याग। (भा.ऐ.क्र. ६२)

□□□

मनुष्य की ईश्वरभाव से सेवा

अपने जीवन में मैंने जो एक श्रेष्ठतम पाठ पढ़ा, वह यह है कि किसी भी कार्य के साधनों के विषय में उतना ही सावधान रहना चाहिए, जितना कि उसके लक्ष्य के विषय में। ... इस एक तत्त्व से मैं सर्वदा बड़े बड़े पाठ सीखता आया हूँ। और मेरा यह मत है कि सब प्रकार की सफलताओं की कुंजी इसी तत्त्व में है – साधनों की ओर भी उतना ही ध्यान देना आवश्यक है, जितना कि साध्य की ओर। (आ.मा. ११८)

दूसरों के प्रति हमारे कर्तव्य का अर्थ है – दूसरों की सहायता करना, संसार का भला करना। अब प्रश्न यह उठता है कि हम संसार का भला क्यों करें? वास्तव में बात यह है कि ऊपर से तो हम संसार का उपकार करते हैं, परन्तु असल में हम अपना ही उपकार करते हैं। ... एक दाता के ऊँचे आसन पर खड़े होकर और अपने हाथ में दो पैसे लेकर यह मत कहो, "ऐ भिखारी, ले, यह मैं तुझे देता हूँ।" परन्तु तुम स्वयं इस बात के लिए कृतज्ञ होओ कि तुम्हें वह निर्धन व्यक्ति मिला, जिसे दान देकर तुमने स्वयं अपना उपकार किया। धन्य पानेवाला नहीं होता, देनेवाला होता है। इस बात के लिए कृतज्ञ होओ कि इस संसार में तुम्हें अपनी दयालुता का प्रयोग करने और इस प्रकार पवित्र एवं पूर्ण होने का अवसर प्राप्त हुआ। (क.यो. ७७,७९)

जो ठण्डे मस्तिष्कवाला और शान्त है, जो उत्तम ढंग से विचार करके कार्य करता है, जिसके स्नायु सहज ही उत्तेजित नहीं हो उठते तथा जो अत्यन्त प्रेम और सहानुभूति-सम्पन्न है, केवल वही व्यक्ति संसार में सत्कार्य कर सकता है और इस तरह उससे अपना भी कल्याण कर सकता है। (क.यो.८४)

बड़े काम में बहुत समय तक लगातार और असामान्य प्रयत्न करने

की आवश्यकता होती है। यदि थोड़े से व्यक्ति असफल भी हो जायँ तो भी उसकी चिन्ता हमें नहीं करनी चाहिए। संसार में यह नियम ही है कि अनेकों नीचे गिरते हैं, कितने ही दु:ख आते हैं तथा कितनी ही भयंकर कठिनाइयाँ सामने उपस्थित होती हैं, एवं स्वार्थपरता तथा अन्य बुराइयों के साथ हृदय में घोर संघर्ष होता है जब कि आध्यात्मिकता की प्रज्वलित अग्नि की आँच से इन सभी का विनाश होनेवाला होता है। (पत्रा. २,१५)

दुष्कर्म द्वारा हम केवल अपना ही नहीं वरन् दूसरों का भी अहित करते हैं और सत्कर्म द्वारा हम अपना तथा दूसरों का भी भला करते हैं। ... कर्मयोग के अनुसार, बिना फल उत्पन्न किये कोई भी कर्म नष्ट नहीं हो सकता। प्रकृति की कोई भी शक्ति उसे फल उत्पन्न करने से नहीं रोक सकती। यदि मैं कोई बुरा कर्म करूँ, तो उसका फल मुझे भोगना ही पड़ेगा; विश्व में ऐसी कोई ताकत नहीं जो इसे रोक सके। इसी प्रकार, यदि मैं कोई सत्कार्य करूँ, तो विश्व में ऐसी कोई शक्ति नहीं, जो उसके शुभ फल को रोक सके। (क.यो. ८८)

सब प्रकार की नीति, शुभ तथा मंगल का मूलमन्त्र 'मैं' नहीं, 'तुम' है। कौन सोचता है कि स्वर्ग और नरक है या नहीं? कौन सोचता है कि मेरी आत्मा है या नहीं? कौन सोचता है कि कोई अनश्वर सत्ता है या नहीं? हमारे सामने यह सारा संसार है जो महादु:ख से परिपूर्ण है। बुद्ध के समान इस संसार-सागर में गोता लगाकर या तो इस संसार के दु:ख को दूर करो या इस प्रयत्न में प्राण त्याग दो। अपने को भूल जाओ; आस्तिक हो या नास्तिक, अज्ञेयवादी हो या वेदान्ती, ईसाई हो या मुसलमान – प्रत्येक के लिए यही सब से पहला पाठ है। (व्या.जी.वे. ८९)

एकमात्र बुद्ध ही ऐसे महापुरुष थे, जो कहते थे, "मैं ईश्वर के बारे में तुम्हारे मत-मतान्तरों को जानने की परवाह नहीं करता। आत्मा के बारे में विभिन्न सूक्ष्म मतों पर बहस करने से क्या लाभ? भला करो और भले बनो। बस यही तुम्हें निर्वाण की ओर अथवा जो कुछ सत्य हो उसकी ओर ले जायगा।" ... केवल वही व्यक्ति सब की अपेक्षा उत्तम रूप से कार्य करता

है, जो पूर्णतया नि:स्वार्थ है, जिसे न तो धन की लालसा है, न कीर्ति की और न किसी अन्य वस्तु की ही। और मनुष्य जब ऐसा करने में समर्थ हो जायगा, तो वह भी एक बुद्ध बन जायगा और उसके भीतर से ऐसी कार्यशक्ति प्रकट होगी, जो संसार की अवस्था को सम्पूर्ण रूप से परिवर्तित कर सकती है। (क.यो. १४१-४२)

स्वार्थपरता ही, अर्थात् स्वयं के सम्बन्ध में पहले सोचना ही सब से बड़ा पाप है। जो मनुष्य यह सोचता रहता है कि मैं पहले खा लूँ, मुझे ही सब से अधिक धन मिल जाय, मैं ही सर्वस्व का अधिकारी बन जाऊँ, मेरी ही सब से पहले मुक्ति हो जाय तथा मैं ही औरों से पहले सीधा स्वर्ग को चला जाऊँ, वह निश्चय ही स्वार्थी है। नि:स्वार्थी व्यक्ति तो यह कहता है, 'मुझे अपनी चिन्ता नहीं है, मुझे स्वर्ग जाने की भी कोई आकांक्षा नहीं है, यदि मेरे नरक में जाने से भी किसी को लाभ हो सकता है तो भी मैं उसके लिए तैयार हूँ।' यह नि:स्वार्थता ही धर्म की परीक्षा है। जिसमें जितनी ही अधिक नि:स्वार्थता है वह उतना ही आध्यात्मिक है तथा उतना ही श्रीशिवजी के समीप है। (भा.वि. ५०-५१)

तुम किसी की सहायता नहीं कर सकते, तुम्हें केवल सेवा का अधिकार है। प्रभु की सन्तान की – यदि भाग्यवान हो तो – स्वयं प्रभु की ही सेवा करो। यदि ईश्वर के अनुग्रह से उसकी किसी सन्तान की सेवा कर सकोगे तो तुम धन्य हो जाओगे। अपने को ही बहुत बड़ा मत समझो। तुम धन्य हो क्योंकि सेवा करने का तुमको अधिकार मिला है और दूसरों को नहीं मिला। यह सेवा तुम्हारे लिए पूजा के तुल्य है। (भा.वि. १८२)

हम धन्य हैं, जो हमें यह सौभाग्य प्राप्त है कि हम उनके लिए कर्म करें – उनको सहायता देने के लिए नहीं। इस 'सहायता' शब्द को मन से सदा के लिए निकाल दो। तुम किसी की सहायता नहीं कर सकते। यह सोचना कि तुम सहायता कर सकते हो, महापातक है – ईश्वर की घोर निन्दा है। तुम स्वयं उनकी इच्छा से यहाँ पर हो। क्या तुम्हारे कहने का यह तात्पर्य है कि तुम उनकी सहायता करते हो? नहीं, सहायता नहीं, तुम उनकी पूजा

करते हो। जब तुम कुत्ते को एक ग्रास खाना देते हो, तब तुम कुत्ते की ईश्वर-रूप से पूजा करते हो। भगवान उस कुत्ते में हैं – कुत्ते के रूप में प्रकट हुए हैं। वे ही सर्वस्व हैं, सर्वभूतों में हैं। (वि.प्र. १२)

मैंने इतनी तपस्या करके यही सार समझा है कि जीव-जीव में वे अधिष्ठित हैं; इसके अतिरिक्त ईश्वर और कुछ भी नहीं है। जो जीवों के प्रति दया करता है, वही व्यक्ति ईश्वर की सेवा कर रहा है। (वि.सं. ३७४)

इस संसाररूप नरककुण्ड में एक दिन के लिए भी किसी व्यक्ति के चित्त में थोड़ासा आनन्द एवं शान्ति प्रदान की जा सके तो उतना ही सत्य है, आजन्म मैं तो यही देख रहा हूँ – बाकी सब कुछ व्यर्थ की कल्पनाएँ हैं। (पत्रा. २,३१२)

एक बात जो मैं सूर्य के प्रकाश की तरह स्पष्ट देखता हूँ वह यह कि अज्ञान ही दु:ख का कारण है और कुछ नहीं। जगत् को प्रकाश कौन देगा? भूतकाल में बलिदान का नियम था और दु:ख है कि युगों तक ऐसा ही रहेगा। संसार के वीरों को और सर्वश्रेष्ठों को 'बहुजनहिताय, बहुजनसुखाय' अपना बलिदान करना होगा। असीम दया और प्रेम से परिपूर्ण सैकड़ों बुद्धों की आवश्यकता है। (पत्रा. १,४५०)

व्यर्थ का असन्तोष जताते हुए शक्तिक्षय करने के बदले हम चुपचाप और वीरता के साथ काम करते चले जायँ। मेरा तो पूर्ण विश्वास है कि संसार की कोई भी शक्ति किसी से वह वस्तु अलग नहीं रख सकती, जिसके लिए वह वास्तव में योग्य हो। अतीत तो हमारा गौरवमय था ही, पर मुझे हार्दिक विश्वास है कि भविष्य और भी गौरवमय होगा। (पत्रा. १, २०८-९)

महामोहग्रस्त लोगों की ओर दृष्टिपात करो। हाय! हृदय-भेदकारी करुणापूर्ण उनके आर्तनाद को सुनो। हे वीरो, बद्धों को पाशमुक्त करने, दरिद्रों के कष्टों को कम करने तथा अज्ञजनों का हृदयान्धकार दूर करने के लिए आगे बढ़ो, 'डरो नहीं', 'डरो नहीं' – यही वेदान्त-दुन्दुभि का स्पष्ट उद्घोष है। (पत्रा. २,६९)

अपने में ब्रह्मभाव को अभिव्यक्त करने का यही एकमात्र उपाय है कि

इस विषय में दूसरों की सहायता करना। यदि प्रकृति के राज्य में समता न भी हो तो भी सब को समान सुविधा मिलनी चाहिए। फिर भी यदि किसी को अधिक तथा किसी को कम सुविधा देना हो तो बलवान की अपेक्षा दुर्बल को अधिक सुविधा प्रदान करना आवश्यक है। अर्थात् चाण्डाल के लिए शिक्षा कि जितनी आवश्यकता है, उतनी ब्राह्मण के लिए नहीं। यदि किसी ब्राह्मण के पुत्र के लिए एक शिक्षक आवश्यक हो तो चाण्डाल के लड़के के लिए दस शिक्षक चाहिए। कारण यह है कि जिसकी बुद्धि की स्वाभाविक प्रखरता प्रकृति के द्वारा नहीं हुई है, उसके लिए अधिक सहायता करनी होगी। चिकने-चुपड़े पर तेल लगाना पागलों का काम है। दरिद्र, पददलित तथा अज्ञ लोग तुम्हारे ईश्वर बनें। (पत्रा. १, ४०४-५)

समस्त उपासनाओं का यही रहस्य तथा मर्म है कि मनुष्य शुद्ध रहे तथा दूसरों के प्रति सदैव भला करे। वह मनुष्य जो श्रीशिवजी को निर्धन, दुर्बल तथा रुग्ण व्यक्ति में भी देखता है, वही सचमुच श्रीशिवजी की उपासना करता है, परन्तु यदि वह उन्हें केवल मूर्ति में ही देखता है तो कहा जा सकता है कि उसकी उपासना अभी नितान्त प्रारम्भिक ही है। (भा.वि. ४९)

बुद्ध का चरित्र बताता है कि एक ऐसा व्यक्ति भी, जो नास्तिक है, जिसका किसी दर्शन में विश्वास नहीं, जो न किसी सम्प्रदाय को मानता है और न किसी मन्दिर-मस्जिद में ही जाता है, जो घोर जड़वादी है, परमोच्च अवस्था प्राप्त कर सकता है। ... जगत् में वे ही एकमात्र ऐसे थे जो यज्ञों में पशुबलि निवारण के हेतु, किसी प्राणी के जीवनरक्षार्थ अपना जीवन भी निछावर करने को तत्पर रहते थे। एक बार उन्होंने एक राजा से कहा, "यदि किसी निरीह पशु के होम करने से तुम्हें स्वर्ग प्राप्ति हो सकती है, तो मनुष्य के होम से और किसी उच्च फल की प्राप्ति होगी। राजन् उस पशु के पाश काटकर मेरी आहुति दे दो – शायद तुम्हारा अधिक कल्याण हो सके।" राजा स्तब्ध हो गया। (म.पु.जी.गा. १३२-३३)

'साधुओं का जीवन परोपकार के लिए ही है, प्राज्ञ व्यक्तियों को दूसरों के लिए सब कुछ त्याग देना चाहिए' – संसार में यही एकमात्र रास्ता है। तुम्हारी भलाई करने से मेरी भी भलाई है, दूसरा कोई उपाय नहीं है, बिलकुल नहीं है। (पत्रा. १, ४०१)

गाँव गाँव तथा घर घर में जाकर लोकहित एवं ऐसे कार्यों में आत्मनियोग करो, जिससे कि जगत् का कल्याण हो सके। चाहे अपने को नरक में क्यों न जाना पड़े, परन्तु दूसरों की मुक्ति हो। ... मृत्यु जब अवश्यम्भावी है, तब सत्कार्य के लिए प्राण त्याग करना ही श्रेय है। (पत्रा. १,३९६-९७)

जगत् के इतिहास से तुम जानते हो कि महापुरुषों ने बड़े बड़े स्वार्थत्याग किये और उनके शुभ फल का भोग जनता ने ही किया। अगर तुम अपनी ही मुक्ति के लिए सब कुछ त्यागना चाहते हो तो फिर त्याग कैसा? क्या तुम संसार के कल्याण के लिए अपनी मुक्तिकामना तक छोड़ने को तैयार हो? तुम स्वयं ब्रह्मस्वरूप हो, इस पर विचार करो। (पत्रा. १,२१६)

यह संसार कायरों के लिए नहीं है। पलायन की चेष्टा मत करो। सफलता अथवा असफलता की चिन्ता मत करो। पूर्ण निष्काम संकल्प में अपने को लय कर दो और कर्तव्य करते चलो। समझ लो कि सिद्धि पाने के लिए जन्मी बुद्धि अपने आपको दृढ़ संकल्प में लय करके सतत कर्मरत रहती है। ... जीवनसंग्राम के मध्य डटे रहो। सुप्तावस्था में अथवा एक गुफा के भीतर तो कोई भी शान्त रह सकता है। कर्म के आवर्त और उन्मादन के बीच दृढ़ रहो और केन्द्र तक पहुँचो। और यदि तुम केन्द्र पा गये तो फिर तुम्हें कोई विचलित नहीं कर सकता। (भ.बु.स. ११८)

लाखों स्त्री-पुरुष पवित्रता के अग्निमन्त्र से दीक्षित होकर, भगवान के प्रति अटल विश्वास से शक्तिमान बनकर और गरीबों, पतितों तथा पददलितों के प्रति सहानुभूति से सिंह के समान साहसी बनकर इस सम्पूर्ण भारत देश में सर्वत्र उद्धार के सन्देश का, सेवा के सन्देश का, सामाजिक उत्थान के सन्देश का, समानता के सन्देश का प्रचार करते हुए विचरण करेंगे। (पत्रा. १,८१)

बच्चा, यदि तुम मेरी बात सुनो, तो तुम्हें अब पहले कमरे का दरवाजा और खिड़कियाँ खुली रखनी होगी। तुम्हारे घर के पास, बस्ती के पास,

कितने अभावग्रस्त तथा दु:खी लोग रहते हैं, उनकी तुम्हें यथासाध्य सेवा करनी होगी। जो पीड़ित हैं, उनके लिए औषधि और पथ्य का प्रबन्ध करो और शरीर के द्वारा उनकी सेवा-शुश्रूषा करो। जो भूखा है उसके लिए खाने का प्रबन्ध करो। तुमने तो इतना पढा लिखा है, अत: जो अज्ञानी है, उसे वाणी द्वारा जहाँ तक हो सके समझाओ। यदि तुम मेरा परामर्श मानो, तो इस प्रकार अपने भाइयों की यथासाध्य सेवा करो। यदि तुम इस प्रकार कर सकोगे, तो तुम्हारे मन को अवश्य शान्ति मिलेगी। (वि.क.५५)

पहले तो हममें वह क्षात्रभाव ही कहाँ है जो हर व्यक्ति को आत्मनियन्त्रण, संयम, सेवा और आज्ञापालन सिखलाता है। क्षात्रभाव-वीरता आत्मतुष्टि और प्रभुत्व में नहीं है; वह आत्मत्याग में है। हमें दूसरों के हृदय और जीवन पर अधिकार पाने के पहले, आदेश मिलने पर अग्रसर हो अपने जीवन की बलि देने के लिए तैयार रहना चाहिए, पहले अपनी बलि देनी चाहिए। (वि.सा. २८)

भय ही मृत्यु है। भय से पार हो जाना चाहिए। आज से ही भयशून्य हो जाओ। अपने मोक्ष तथा परहित के निमित्त आत्मोत्सर्ग करने के लिए अग्रसर हो जाओ। थोड़ीसी हड्डी तथा मांस का बोझ लिये फिरने से क्या होगा? (वि.सं. ४६)

ऊँचे पदवालों या धनिकों का भरोसा न करना। उनमें जीवनीशक्ति नहीं है – वे तो जीते हुए भी मुर्दे के समान हैं। भरोसा तुम लोगों पर है; गरीब, पद-मर्यादा रहित किन्तु विश्वासी तुम्हीं लोगों पर। ईश्वर पर भरोसा रखो। किसी चालबाजी की आवश्यकता नहीं; उससे कुछ भी नहीं होता। दुखियों का दर्द समझो और ईश्वर के पास सहायता की प्रार्थना करो – सहायता अवश्य मिलेगी। ... मैं इस देश में भूख या जाड़े से भले ही मर जाऊँ, परन्तु मेरे नवयुवको, मैं गरीब, भूखों और उत्पीड़ितों के लिए इस सहानुभूति और प्राणपण प्रयत्न को थाती के तौर पर तुम्हें अर्पण करता हूँ। ... अपना सारा जीवन इन तीस करोड़ लोगों के उद्धार के लिए अर्पण कर देने का व्रत लो, जो दिनोंदिन डूबते जा रहे हैं। (पत्रा. १,८३-८४)

संसार छः श्रद्धालु मनुष्यों का इतिहास, छः अत्यन्त शुद्ध चरित्रवान मनुष्यों का इतिहास है। हमें तीन वस्तुओं की आवश्यकता है। अनुभव करने के लिए हृदय की, कल्पना करने के लिए मस्तिष्क की ओर काम करने के लिए हाथ की। पहले हमें संसार के बाहर जाना चाहिए और अपने लिए समुचित उपकरण तैयार करने चाहिए। अपने को एक डाइनमो बनाओ। पहले संसार के लिए महसूस करो। ... अपने से पूछो, तुम्हारा मन घृणा अथवा ईर्ष्या की प्रतिक्रिया करता है या नहीं? संसार में जो टनों घृणा और क्रोध ऊँड़ेला जा रहा है, उससे भले कार्यों का निरन्तर निराकरण हो रहा है। यदि तुम पवित्र हो, यदि तुम सशक्त हो, तो तुम अकेले ही समस्त संसार के बराबर हो। (ना.भ.प्र.आ. २१-२२)

इस तरह का दिन क्या कभी होगा कि परोपकार के लिए जान जायगी? दुनिया बच्चों का खिलवाड़ नहीं है – बड़े आदमी वे हैं जो अपने हृदय-रुधिर से दुसरों का रास्ता तैयार करते हैं – यही सदा से होता आया है – एक आदमी अपना शरीरपात करके सेतु निर्माण करता है और हजारों आदमी उसके ऊपर से नदी पार करते हैं। एवमस्तु, एवमस्तु, (ऐसा ही हो, ऐसा ही हो।) (पत्रा. १,१७७-७८)

□□□

धर्म और नीति

धर्म वह वस्तु है, जिससे पशु मनुष्य तक और मनुष्य परमात्मा तक उठ सकता है। (सू.सु. २)

मनुष्य और परमेश्वर की व्याख्या: मनुष्य एक असीम वृत्त है, जिसकी परिधि कहीं भी नहीं है, लेकिन जिसका केन्द्र एक स्थान में निश्चित है, और परमेश्वर एक ऐसा असीम वृत्त है, जिसकी परिधि कहीं नहीं है, परन्तु जिसका केन्द्र सर्वत्र है। (आ.मा. ३३-३४)

सुर तथा असुर में और कुछ भेद नहीं – भेद केवल नि:स्वार्थ तथा स्वार्थ में है। असुर भी उतना जानता है, जितना सुर, उसमें बस पवित्रता नहीं होती – इससे वह असुर बन जाता है। आधुनिक संसार पर यही भावना लागू करो। अपवित्र ज्ञान और शक्ति का अतिरेक मनुष्यों को असुर बना देता है। (वे. ७९)

पुण्य वह है, जो हमारी उन्नति में सहायता करता है और पाप हमारे पतन में। मनुष्य तीन प्रकार के गुणों से निर्मित है, पाशविक, मानवीय और दैवी। जो तुममें दैवी गुण बढ़ाता है वह पुण्य है और जो तुममें पशुता बढ़ाता है वह पाप है। तुमको पाशविक वृत्ति मारकर 'मनुष्य' बनना चाहिए – प्रेममय तथा उदार होना चाहिए। इससे भी ऊपर उठकर तुम्हें शुद्ध आनन्द, सच्चिदानन्द, अदाहक अग्नि के समान, अद्भुत प्रेममय किन्तु मानवीय प्रेम की दुर्बलता से रहित, दु:ख की भावना से रहित बनना चाहिए। (वि.प्र. ११९)

नि:स्वार्थता ही ईश्वर है। एक मनुष्य चाहे रत्नखचित सिंहासन में आसीन हो, सोने के महल में रहता हो, परन्तु यदि वह पूर्ण रूप से नि:स्वार्थ है तो ब्रह्म में ही स्थित है। परन्तु एक दूसरा मनुष्य चाहे झोपड़ी में ही क्यों न रहता हो, चिथड़े क्यों न पहनता हो, सर्वथा दीनहीन ही क्यों न हो, पर यदि वह स्वार्थी है, तो हम कहेंगे कि वह संसार में घोर रूप से लिप्त है। (क.यो. ९५)

तुम धर्म-पथ में अपने अग्रसर होने का प्रथम लक्षण यह देखोगे कि तुम दिन पर दिन बड़े प्रफुल्ल होते जा रहे हो। यदि कोई व्यक्ति विषादयुक्त दिखे, तो वह अजीर्ण का फल भले ही हो, पर धर्म का लक्षण नहीं हो सकता। ... पाप ही कष्ट का कारण है, अन्य किसी कारण से कष्ट नहीं आता। उतरा हुआ चेहरा लेकर क्या होगा? कैसा भयानक दृश्य है वह! ऐसी सूरत लेकर बाहर मत जाना। किसी दिन ऐसा होने पर दरवाजा बन्द करके समय बिता देना। संसार के भीतर इस बीमारी को संक्रमित करने का तुम्हें क्या अधिकार है? (रा.यो. २२९-३०)

क्या तुमने विश्व के इतिहास में महापुरुषों की शक्ति की कथाएँ नहीं पढ़ी? यह शक्ति उन्हें कहाँ से मिली? बुद्धि से? उनमें से क्या कोई दर्शन सम्बन्धी सुन्दर पुस्तक लिख गया है? अथवा न्याय के कूट विचार लेकर कोई पुस्तक लिख गया है? किसी ने ऐसा नहीं किया। वे केवल थोड़ीसी बातें कह गये हैं। ईसा के समान सहृदय बनो, तुम भी ईसा हो जाओगे; बुद्ध के समान सहृदय बनो, तुम भी बुद्ध बन जाओगे। भाव ही जीवन है, भाव ही बल है, भाव ही तेज है – भाव के बिना कितनी ही बुद्धि क्यों न लगाओ, ईश्वरप्राप्ति नहीं होगी। (व्या.जी.वे. २५)

एक शब्द में वेदान्त का आदर्श है – मनुष्य के सच्चे स्वरूप को जानना। और वेदान्त का यही सन्देश है कि यदि तुम व्यक्त ईश्वररूप अपने भाई की उपासना नहीं कर सकते, तो तुम उस ईश्वर की कैसे उपासना करोगे जो अव्यक्त है? (व्या.जी.वे. ५१)

यदि तुम वास्तव में पवित्र हो तो तुम्हें अपवित्रता कैसे दिखायी दे सकती है? कारण, जो भीतर है वही बाहर दीख पड़ता है। हमारे अन्दर यदि अपवित्रता न होती तो हम उसे बाहर कभी देख ही न पाते। वेदान्त का यह एक व्यावहारिक पहलू है। आशा है, हम सभी लोग जीवन में इसको व्यवहार में लाने की चेष्टा करेंगे। (व्या.जी.वे. ५३)

तुम्हारा ईश्वरत्व ही ईश्वर का भी प्रमाण है। यदि तुम वास्तविक महापुरुष नहीं हो तो ईश्वर के सम्बन्ध में भी कोई बात सत्य नहीं। तुम यदि ईश्वर नहीं हो, तो कोई ईश्वर भी नहीं है और कभी होगा भी नहीं। वेदान्त कहता

है, इसी आदर्श का अनुसरण करना चाहिए। हम लोगों में से प्रत्येक को ही महापुरुष बनना पड़ेगा – और तुम स्वरूपतः वही हो। केवल इतना ही है कि यह 'ज्ञात' हो जाय। यह कभी न सोचना कि आत्मा के लिए कुछ असम्भव है। ऐसा कहना ही भयानक नास्तिकता है। यदि पाप नामक कोई वस्तु है तो यह कहना ही एकमात्र पाप है कि मैं दुर्बल हूँ अथवा अन्य कोई दुर्बल है। (व्या.जी.वे. २६)

वेदान्त कहता है, ईश्वर के सिवाय दूसरा कुछ भी नहीं है। – जीवित ईश्वर तुम्हारे भीतर रहते हैं, तब भी तुम मन्दिर, गिरजाघर आदि बनाते हो और सब प्रकार की काल्पनिक झूठी चीजों में विश्वास करते हो। मनुष्यदेह में मानवात्मा ही एकमात्र उपास्य ईश्वर है। हाँ, पशु आदि भी भगवान के मन्दिर हैं, किन्तु मनुष्य ही सर्वश्रेष्ठ मन्दिर है – ताजमहल जैसा। यदि मैं उनकी उपासना नहीं कर सका तो किसी भी मन्दिर से कुछ भी उपकार नहीं होगा। (व्या.जी.वे. ४३-४४)

धर्म का रहस्य आचरण से जाना जा सकता है, व्यर्थ के मतवादों से नहीं। भला बनना तथा भलाई करना – इसमें ही समग्र धर्म निहित है। "जो केवल 'प्रभु, प्रभु' की रट लगाता है, वह नहीं, किन्तु जो उस परम पिता की इच्छानुसार कार्य करता है।" (पत्रा. १,५८)

जिस किसी वस्तु से आध्यात्मिक, मानसिक या शारीरिक दुर्बलता उत्पन्न हो, उसे पैर की अंगुलियों से भी मत छुओ। मनुष्य में जो स्वाभाविक बल है, उसकी अभिव्यक्ति धर्म है। असीम शक्ति का स्प्रिंग अपने को फैला रहा है। ... यही है मनुष्य का, धर्म का, सभ्यता या प्रगति का इतिहास। (भ.बु.स. ९७-९८)

धर्म का मूल उद्देश्य है – मनुष्य को सुखी करना। किन्तु परजन्म में सुखी होने के लिए इस जन्म में दुःख-भोग करना कोई बुद्धिमानों का काम नहीं है। इस जन्म में ही, इसी मुहूर्त से सुखी होना होगा। जिस धर्म के द्वारा यह सम्पन्न होगा, वही मनुष्य के लिए उपयुक्त धर्म है। (वि.क. ३४)

धर्म तात्त्विक (आध्यात्मिक) जगत् के सत्यों से उसी प्रकार सम्बन्धित है, जिस प्रकार रसायनशास्त्र तथा दूसरे भौतिक विज्ञान भौतिक जगत् के

सत्यों से। रसायनशास्त्र पढ़ने के लिए प्रकृति की पुस्तक पढ़ने की आवश्यकता है। धर्म की शिक्षा प्राप्त करने के लिए तुम्हारी पुस्तक अपनी बुद्धि तथा हृदय है। सन्त लोग प्रायः भौतिक विज्ञान से अनभिज्ञ ही रहते हैं, क्योंकि वे एक भिन्न पुस्तक, अर्थात् आन्तरिक पुस्तक पढ़ा करते हैं। और वैज्ञानिक लोग प्रायः धर्म के विषय से अनभिज्ञ ही रहते है, क्योंकि वे भी भिन्न पुस्तक अर्थात् बाह्य पुस्तक के पढ़नेवाले हैं। (ध.त. १०४)

दुनिया में तुमको ऐसे अनेक लोग मिलेंगे, जो कहते फिरते हैं, "मैं धार्मिक बनना चाहता था, सिद्धि प्राप्त करना चाहता था, पर वैसा न कर सका; इसलिए मैं अब किसी चीज में विश्वास नहीं करता।" शिक्षित लोगों में भी ऐसा कहनेवाले लोग मिलेंगे ही। अनेक लोग कहेंगे, "मैंने आजीवन धार्मिक बनने का प्रयास किया, पर इसमें कुछ नहीं रखा है।" दूसरी ओर तुम यह दृश्य भी पाओगे : मान लो, कोई रसायनशास्त्री है। वह तुम्हारे पास आता है, और कहता है कि वह रसायनशास्त्री है। उससे तुम कहते हो, "मैं जीवन भर रसायनशास्त्री बनने का प्रयास करता रहा और देखा कि उसमें कुछ नहीं रखा है। इसलिए मैं रसायनशास्त्र में विश्वास नहीं करता।" वह तुरन्त तुमसे पूछेगा – "तुमने कब इसके लिए प्रयास किया?" तुम कहोगे, "मैं नित्य सोने के पहले कहता रहा – 'ओ रसायनशास्त्र, मेरे पास आ जाओ!' और वह कभी न आया।" "तुम्हारे प्रयास ही कुछ इसी ढंग के रहे। वह रसायनशास्त्री तुम पर हँसेगा और कहेगा – "भई, तरीका यह नहीं है। क्यों न तुमने किसी प्रयोगशाला में जाकर रसायनों से कभी अपने हाथ को जलाया? उससे तुम कुछ सीख गये होते।" क्या धर्म के क्षेत्र में भी तुम ऐसा ही प्रयत्न करते हो? हर विज्ञान में सीखने का एक विशिष्ट तरीका होता है और धर्म के साथ भी यही बात है। (ध.त. ९८)

तुम देखोगे के अगले पचास वर्षों में ही यह यूरोप, जो आज समस्त भौतिक शक्ति का लीलाक्षेत्र बन बैठा है, यदि अपने को सम्भाल नहीं लेता है, अपना आधार बदल नहीं देता है तथा आध्यात्मिकता ही को जीवन-आधार नहीं बना लेता है तो बरबाद हो जायगा, धूल में मिल जायगा; और यदि यूरोप को कोई शक्ति बचा सकती है तो वह है केवल उपनिषदों का

धर्म। (स्वामी विवेकानन्दजी ने यह बात १८९७ ई. में कही थी।)
(भा.वि. ७१)

हम मनुष्यजाति को उस स्थान पर पहुँचाना चाहते हैं जहाँ न वेद है, न बाइबिल है, न कुरान है; परन्तु वेद, बाइबिल और कुरान के समन्वय से ही ऐसा हो सकता है। मनुष्यजाति को यह शिक्षा देनी चाहिए कि सब धर्म उस धर्म के, उस एकमेवाद्वितीय के भिन्न भिन्न रूप हैं, इसलिए प्रत्येक व्यक्ति उन धर्मों में से अपना मनोनुकूल मार्ग चुन सकता है। (पत्रा. २,१९५)

नीतिपरायण तथा साहसी बनो, अन्त:करण पूर्णतया शुद्ध रहना चाहिए। पूर्ण नीतिपरायण तथा साहसी बनो – अपने प्राणों के लिए भी कभी न डरो। धार्मिक मत-मतान्तरों को लेकर व्यर्थ में माथापच्ची न करना। कायर लोग ही पापाचरण करते हैं, वीरपुरुष कभी भी पापानुष्ठान नहीं करते – यहाँ तक कि कभी वे अपने मन में भी पापचिन्ता का उदय नहीं होने देते।
(पत्रा. १,२२-२३)

'नीतिसंगत' और 'नीतिविरुद्ध' की यही एकमात्रा व्याख्या हो सकती है कि जो स्वार्थपर है वह 'नीतिविरुद्ध' है और जो नि:स्वार्थपर है, वह 'नीतिसंगत' है। (क.यो. १३०)

एक व्यक्ति बड़ी सुन्दर भाषा में सुन्दर भाव व्यक्त करता है, परन्तु लोग आकृष्ट नहीं होते। और दूसरा व्यक्ति न सुन्दर भाषा बोल सकता है, न सुन्दर ढंग से भाव व्यक्त कर सकता है, परन्तु फिर भी लोग उसकी बात से मुग्ध हो जाते हैं। ऐसा क्यों? यह ओजशक्ति ही शरीर से निकलकर ऐसा अद्भुत कार्य करती है। इस ओजशक्ति से युक्त पुरुष जो कुछ कार्य करते हैं, उसी में महाशक्ति का विकास देखा जाता है। ऐसी है ओज की शक्ति! ... ब्रह्मचर्यपालन करनेवाले स्त्री-पुरुष ही इस ओजधातु को मस्तिष्क में संचित करते हैं। इसीलिए ब्रह्मचर्य सर्वश्रेष्ठ माना गया है। मनुष्य सहज ही अनुभव करता है कि काम को प्रश्रय देने पर सारा धर्मभाव, चरित्र-बल और मानसिक तेज जाता रहता है। इसी कारण देखोगे, संसार में जिन जिन सम्प्रदायों में बड़े बड़े धर्मवीर पैदा हुए हैं, उन सभी सम्प्रदायों ने ब्रह्मचर्य पर विशेष जोर दिया है। (रा.यो. ७७-७९)

नीतिशास्त्र सदा कहता है – 'मैं नहीं, तू।' इसका उद्देश्य है – 'स्व नहीं, नि: – स्व'। इसका कहना है कि असीम सामर्थ्य अथवा असीम आनंद को प्राप्त करने के क्रम में मनुष्य निरर्थक व्यक्तित्व की धारणा से चिपका रहता है, उसे छोड़ना पड़ेगा। तुमको दूसरों को आगे करना पड़ेगा और स्वयं को पीछे। हमारी इन्द्रियाँ कहती हैं, 'अपने को आगे रखो', पर नीतिशास्त्र कहता है – 'अपने को सब से अन्त में रखो।' इस तरह नीतिशास्त्र का सम्पूर्ण विधान त्याग पर ही आधारित है। उसकी पहली माँग है कि भौतिक स्तर पर अपने व्यक्तित्व का हनन करो, निर्माण नहीं। वह जो असीम है, उसकी अभिव्यक्ति इस भौतिक स्तर पर नहीं हो सकती, ऐसा असम्भव है, अकल्पनीय है। (ध.त. ९)

उपयोगितावाद मनुष्य के नैतिक सम्बन्धों की व्याख्या नहीं कर सकता; क्योंकि पहली बात तो यह है कि उपयोगिता के आधार पर हम किसी भी नैतिक नियम पर नहीं पहुँच सकते। ... उपयोगितावादी हमसे 'असीम' – अतीन्द्रिय गंतव्य स्थल – के प्रति संघर्ष का त्याग चाहते हैं, क्योंकि अतीन्द्रियता अव्यावहारिक है, निरर्थक है। पर साथ ही वे यह भी कहते हैं कि नैतिक नियमों का पालन करो, समाज का कल्याण करो। आखिर हम क्यों किसी का कल्याण करें? भलाई करने की बात तो गौण है, प्रधान तो है – एक आदर्श। नीतिशास्त्र स्वयं साध्य नहीं है, प्रत्युत साध्य को पाने का साधन है। यदि उद्देश्य नहीं है, तो हम क्यों नैतिक बने? हम क्यों दूसरों की भलाई करें? क्यों हम लोगों को सताये नहीं? अगर आनन्द ही मानव-जीवन का चरम उद्देश्य है, तो क्यों न मैं दूसरों को कष्ट पहुँचाकर भी स्वयं सुखी रहूँ? ऐसा करने से मुझे रोकता कौन है? दूसरी बात यह है कि उपयोगिता का आधार अत्यन्त संकीर्ण है। ... उपयोगितावादी नियम समाज की वर्तमान स्थिति में काम कर सकता है। इसके आगे इसकी कोई उपयोगिता नहीं रह जाती। किन्तु धर्म तथा आध्यात्मिकता पर आधारित नीतिशास्त्र का क्षेत्र असीम मनुष्य है। वह व्यक्ति को लेता है, पर उसके सम्बन्ध असीम हैं। वह समाज को भी लेता है, क्योंकि समाज व्यक्तियों के समूह का ही नाम है। (ध.त. ९-११)

□□□

हमारी मातृभूमि : भारत

क्या भारत मर जायगा? तब तो संसार से सारी आध्यात्मिकता का समूल नाश हो जायगा, सारे सदाचारपूर्ण आदर्श जीवन का विनाश हो जायगा, धर्मों के प्रति सारी मधुर सहानुभूति नष्ट हो जायगी, सारे ध्येयवाद का भी लोप हो जायगा। और उसके स्थान में कामरूपी देव और विलासितारूपी देवी राज्य करेगी। धन उनका पुरोहित होगा। प्रतारणा, पाशविक बल और प्रतिद्वन्द्विता, ये ही उनकी पूजा-पद्धति होगी और मानव-आत्मा उनकी बलिसामग्री हो जायगी। ऐसी दुर्घटना कभी हो नहीं सकती। ... क्या वह कभी मर जायगा? वह भारत जो प्राचीन काल से सभी उदात्तता, नीति और आध्यात्मिकता का जन्मस्थान रहा है, वह देश जिसमें ऋषिगण विचरण करते रहे हैं, जिस भूमि में देवतुल्य मनुष्य अभी भी जीवित और जाग्रत है, क्या मर जायगा? भाइयो! मैं उस यूनानी ऋषि डायोजीनिस की लालटेन को उधार लेकर आपके पीछे पीछे इस विशाल संसार के शहरों, ग्रामों, मैदानों और जंगलों को चलूँगा – मुझे अगर आप दिखा सकते हो तो ऐसे पुरुष दूसरे देशों में भी दिखा दीजिये। (हि.ध.प. २६-२७)

संसार हमारी भारतमाता का बहुत ही ऋणी है। यदि भिन्न भिन्न जातियों की पारस्परिक तुलना की जाय तो मालूम होगा कि सारा संसार सहिष्णु एवं 'निरिह' हिन्दू का जितना ऋणी है, उतना और किसी का नहीं। ... जब ग्रीस का अस्तित्व नहीं था, रोम भविष्य के अंधकारगर्भ में छिपा हुआ था, जब आधुनिक यूरोपियनों के पुरखे जर्मनी के घने जंगलों के अन्दर छिपे रहते थे और जंगली लोगों की तरह अपने शरीर को नीले रंग से रंगा करते थे, तब भी भारतवासी कितने क्रियाशील थे, इस बात की गवाही हमें इतिहास दे रहा है। उससे भी पहले, जिस समय की कोई स्थिति इतिहास नहीं बता सकता, जिस सुदूर अतीत की ओर नजर दौड़ने का साहस किम्वदन्ती को

भी नहीं होता, उस अत्यन्त प्राचीन काल से लेकर अब तक न जाने कितनी ही भाव तरंगे भारत से प्रसूत हुई हैं, पर वे सब तरंगे अपने आगे शान्ति तथा पीछे आशीर्वाद लेकर अग्रसर हुई हैं। (भा.वि. ३-५)

क्या तुम यह बता सकते हो कि भारत अन्य सब आर्य जातियों से पिछड़ा हुआ क्यों रहे? भारत की बुद्धि क्या कुछ कम है? क्या यहाँ कुशलता की कमी है? उसका शिल्प, उसका गणित, उसके दर्शनशास्त्र आदि का विचार करने पर क्या तुम किसी विषय में कम कह सकते हो? आवश्यक इतना ही है कि वह मोहनिद्रा से, सैकड़ों सदियों को दीर्घ निद्रा से जाग जाय और संसार की समग्र जातियों के बीच उसका जो यथार्थ कार्य है, उसे ग्रहण कर ले। ... 'त्याग' और 'सेवा' ही भारत के राष्ट्रीय आदर्श हैं – इन दो बातों में भारत को उन्नत करो। ऐसा होने पर सब कुछ अपने आप ही उन्नत हो जायगा। (स्वा.वि.वा. ८१-८३)

ऐ अमर पुत्रो, मेरे देशवासियों, यह हमारा जातीय जहाज युगों से सभ्यता को ले आता, ले जाता रहा है और इसने अपनी अतुलनीय सम्पदा से संसार को समृद्ध बनाया है। अनेक गौरवपूर्ण शताब्दियों तक हमारा यह जहाज जीवन-सागर में चलता रहा है और करोड़ों आत्माओं को उसने दुःख से दूर संसार के उस पार पहुँचाया है। आज शायद उसमें एकछेद हो गया हो और इससे वह क्षत हो गया हो, यह चाहे तुम्हारी गलती से या चाहे किसी और कारण से। तुम जो इस जहाज पर चढ़े हुए हो, अब क्या करोगे? क्या तुम दुर्वचन कहते हुए आपस में झगड़ोगे? क्या तुम मिलकर उस छेद को बन्द करने की पूर्ण चेष्टा करोगे? हम सब लोगों को अपनी पूरी जान लड़ाकर खुशी खुशी उसे बन्द कर देना चाहिए। अगर न कर सकें तो हम लोगों को एक संग डूब मरना होगा। पर किसी के लिए शुभेच्छाएँ छोड़कर बूरे शब्द हमारे मुँह से न निकलें। (वि.सा.खं. ५, ३४८)

अब आप समझ सकते हैं, कि उस राक्षसी का प्राण-पखेरु कहाँ है? वह धर्म में है। उसका नाश कोई नहीं कर सका, इसीलिए इतनी आपद-विपद को झेलते हुए भी हिन्दू जाति अभी तक बची है। अच्छा, एक भारतीय विद्वान ने पूछा कि इसी राष्ट्र के प्राण को धर्म में रखने की क्या आवश्यकता

है? उसे सामाजिक या राजनीतिक स्वतन्त्रता में क्यों न रखा जाय, जैसा कि दूसरे राष्ट्रों में होता है। ऐसी बात कहना तो बड़ा सरल है। ... वास्तविक बात यह है कि जो नदी पहाड़ से एक हजार कोस उतर आयी हो, वह क्या फिर पहाड़ पर जायगी या जा सकेगी? यदि वह जाने की चेष्टा भी करे तो परिणाम यही होगा कि इधर-उधर जाकर वह सूख जायगी। वह नदी चाहे जैसी हो समुद्र में जायगी ही, चाहे दो दिन पहले या दो दिन बाद, दो अच्छी जगहों में से होकर अथवा दो गन्दी जगहों से गुजरकर। यदि हमारे इस दस हजार वर्ष के जातीय जीवन में भूल हुई तो इस समय अब तो और कोई उपाय है ही नहीं। इस समय यदि नये चरित्र का गठन किया जाय तो मृत्यु की ही सम्भावना है। (प्रा.पा. १९-२०)

हे मेरे मित्रो; हमारी जाति अभी भी जीवित है, धुकधुकी चल रही है, केवल बेहोश हो गयी है। और देखोगे कि इस देश का प्राण धर्म है, भाषा धर्म है तथा भाव धर्म है। आपकी राजनीति, समाजनीति, रास्ते की सफाई, प्लेग-निवारण, दुर्भिक्ष-पीड़ितों को अन्नदान आदि आदि चिरकाल से इस देश में जैसे हुआ है वैसे ही होगा – अर्थात् धर्म के द्वारा यदि होगा तो होगा, अन्यथा नहीं। आपके रोने चिल्लाने का कुछ भी असर न होगा। (प्रा.पा. २१)

हे मेरे मित्रो, प्रत्येक देश में एक ही नियम है। वह यह कि थोड़े से शक्तिमान मनुष्य जो करते हैं वही होता है। बाकी लोग केवल भेड़ियाधसान का ही अनुकरण करते हैं। मैंने तुम्हारी पार्लमेन्ट (Parliament), सेनेट (Senate), वोट (Vote), मेजारिटी (Majority), बैलट (Ballot) आदि सब देखा है। सभी जगह ऐसा ही है। ... अब प्रश्न यह है कि भारतवर्ष में कौन शक्तिमान पुरुष हैं? – वे ही जो धर्मवीर हैं। वे ही हमारे समाज को चलाते हैं, वे ही समाज की रीतिनीति में परिवर्तन की आवश्यकता होने पर उसे बदल देते हैं। हम चुपचाप सुनते हैं और उसे मानते हैं। (प्रा.पा. २१-२२)

एक बात पर विचार करके देखिये, मनुष्य नियमों को बनाता है या नियम मनुष्यों को बनाते हैं? मनुष्य रुपया पैदा करता है या रुपया मनुष्यों को पैदा करता है? मनुष्य कीर्ति और नाम पैदा करता है या कीर्ति और

नाम मनुष्य पैदा करते हैं? मेरे मित्रो, पहले मनुष्य बनिये, तब आप देखेंगे कि वे सब बाकी चीजें स्वयं आपका अनुसरण करेंगी। परस्पर के घृणित द्वेषभाव को छोड़िये ... और सदुद्देश्य, सदुपाय, सत्साहस एवं सद्वीर्य का अवलम्बन कीजिये। आपने मनुष्ययोनि में जन्म लिया है तो अपनी कीर्ति यहीं छोड़ जाइये। (प्रा.पा. २२-२३)

कोई भी सत्य, प्रेम तथा निष्कपटता को बाधा नहीं पहुँचा सकता। तुम अपने मन और वाणी को एक कर पाये हो? क्या तुम मृत्यु तक को तुच्छ समझकर निःस्वार्थ भाव से रह सकते हो? क्या तुम्हारे हृदय में प्रेम है? यदि ये बातें तुम्हारे भीतर विद्यमान हों तो फिर तुम्हें किसी भी चीज से, यहाँ तक की मृत्यु से भी डरने की आवश्यकता नहीं। वत्स, बढ़े चलो, समग्र जगत् ज्ञानलोक के लिए लालायित है, उस ज्ञानलोक को प्राप्त करने के लिए उत्सुकतापूर्ण दृष्टि से जगत् हमारी ओर देख रहा है। एकमात्र भारत के पास ही ऐसा ज्ञानलोक विद्यमान है जिसकी कार्यशक्ति न तो इन्द्रजाल में है और न छल ही में, वह तो सच्चे धर्म के मर्मस्थल – उच्चतम आध्यात्मिक सत्य के अशेष महिमान्वित उपदेशों में प्रतिष्ठित है। जगत् को इस तत्त्व की शिक्षा प्रदान करने के लिए ही प्रभु ने इस जाति को विभिन्न दुःख-कष्टों के भीतर भी आज तक जीवित रखा है। अब उस वस्तु को देने का समय उपस्थित हुआ है। हे वीरहृदय युवको, तुम यह विश्वास रखो कि अनेक महान् कार्य करने के लिए तुम लोगों का जन्म हुआ है। कुत्तों की आवाज से न डरो, यहाँ तक कि यदि आकाश से प्रबल वज्रपात भी हो तो भी न डरो, उठो – कमर कसकर खड़े होओ – कार्य करते चलो। (पत्रा.१,१६६-६७)

भारतवर्ष का पुनरुत्थान होगा, पर वह शारीरिक शक्ति से नहीं, वरन् आत्मा की शक्ति द्वारा। वह उत्थान विनाश की ध्वजा लेकर नहीं, वरन् शान्ति और प्रेम की ध्वजा से ... मैं अपने सामने यह एक सजीव दृश्य अवश्य देख रहा हूँ कि हमारी यह वृद्ध माता पुनः एक बार जाग्रत होकर अपने सिंहासन पर नवयौवनपूर्ण और पूर्व की अपेक्षा अधिक महामहिमान्वित होकर विराजी है शान्ति और आशीर्वाद के वचनों के साथ सारे संसार में उसके नाम की घोषणा कर दो। (हि.ध.प. ३३-३४)

एक नवीन भारत निकल पड़े – निकले हल पड़कर, किसानों की कुटी भेदकर, मछुआ, मोची, मेहतरों की झोपड़ियों से। निकल पड़े बनियों की दूकानों से, भुजवा के भाड़ के पास से, कारखाने से, हाट से, बाजार से। निकले झाड़ियों, जंगलों, पहाड़ों पर्वतों से। (परि. ३३-३४)

हमारे भारतवर्ष का यह एक महान् दोष है कि हम कोई स्थायी संस्था नहीं बना सकते हैं और उसका कारण यह है कि दूसरों के साथ हम कभी अपने उत्तरदायित्व का बटवारा नहीं करना चाहते और हमारे बाद क्या होगा – यह भी हम नहीं सोचते। (पत्रा. २,१९८-९९)

जनरल स्ट्राँग नाम के मेरे एक अंग्रेज मित्र सिपाही-विद्रोह के समय इस देश में थे। वे गदर की कहानी बहुत कहते थे। एक दिन बातों ही बातों में मैंने उनसे पूछा, "सिपाहियों के साथ इतनी तोपें, बारूद, रसद थी, और वे शिक्षित तथा दूरदर्शी थे। फिर वे इस तरह क्यों हारकर भागे?" उन्होंने उत्तर दिया, "उसमें जो लोग नेता हुए थे, वे सब बहुत पीछे से 'मारो बहादुर', 'लड़ो बहादुर' कह कहकर चिल्ला रहे थे! स्वयं आफिसर के आगे बढ़े बिना तथा मौत का सामना किये बिना कहीं सिपाही लड़ते हैं?" सब कामों में ऐसा ही हाल है। "सिरदार तो सरदार"; सिर दे सको तो नेता हो। हम सब लोग धोखा देकर नेता होना चाहते हैं; इसी से कुछ होता नहीं, कोई मानता भी नहीं। (परि. ३२)

पहले आदेश पालन करना सीखो। इन सब पाश्चात्य जातियों में स्वाधीनता का प्रभाव जैसा प्रबल है, आदेश पालन करने का भाव भी वैसा ही प्रबल है। हम सभी अपने आपको बड़ा समझते हैं, इससे कोई काम नहीं बनता। महान् उद्यम, महान् साहस, महावीर्य और सब से पहले आज्ञापालन – ये सब गुण व्यक्तिगत या जातिगत उन्नति के लिए एकमात्र उपाय हैं। और ये गुण हममें हैं ही नहीं। (पत्रा. १, ३६१)

ईर्ष्या ही हमारे दाससुलभ जातीय चरित्र का धब्बा है। औरों का तो क्या कहना, स्वयं सर्वशक्तिमान ईश्वर भी इस ईर्ष्या के कारण हमारा कुछ भला नहीं कर सकता ... मेरे बारे में समझो कि मुझे जो कुछ करना था वह सब मैं कर चुका – अब मैं मर गया; यही समझो कि सब कामों का

भार तुम्ही पर है। युवको, समझो कि तुम्ही इस काम के लिए विधाता से भेजे हुए हो। तुम काम में लग जाओ। (पत्रा. १, ११६)

मुझे पूर्ण विश्वास है कि कोई भी मनुष्य या राष्ट्र अपने को दूसरों से अलग रखकर जी नहीं सकता ... लेन-देन ही संसार का नियम है और यदि भारत फिर से उठना चाहे तो यह परमावश्यक है कि वह अपने रत्नों को बाहर लाकर पृथ्वी की जातियों में बिखेर दे और इसके बदलें में वे जो कुछ दे सकें उसे सहर्ष ग्रहण करे। विस्तार ही जीवन है और संकोच मृत्यु; प्रेम ही जीवन है और द्वेष मृत्यु। हमने उसी दिन से मरना शुरू किया जब से हम अन्यान्य जातियों से घृणा करने लगे और यह मृत्यु बिना इसके किसी दूसरे उपाय से रुक नहीं सकती कि हम फिर बिस्तर को अपनाये जो कि जीवन है। (पत्रा. १, २०७-८)

मेरी समझ में देश के जनसाधारण की अवहेलना करना ही हमारा महान् राष्ट्रीय पाप है और वह हमारी अवनति का एक कारण है। जब तक भारत की साधारण जनता उत्तम रूप से शिक्षित नहीं हो जाती, जब तक उसे खाने-पीने को अच्छी तरह से नहीं मिलता, जब तक उसकी अच्छी तरह देख-भाल नहीं होती, तब तक कितना ही राजनितिक आन्दोलन क्यों न हो, उससे कुछ फल न होगा। ये बेचारे गरीब हमारी शिक्षा के लिए (राजकर के रूप में) पैसा देते हैं, हमारी धार्मिक सिद्धि के लिए (अपने शारीरिक) परिश्रम से बड़े बड़े मन्दिर खड़े करते हैं; पर इसके बदले उनको चिरकाल ठोकरों के सिवाय और क्या मिला है? वास्तव में वे हमारे गुलाम ही बन गये हैं। यदि हम भारत का पुनरुद्धार चाहते हैं, तो हमें अवश्य ही उनके लिए कार्य करना होगा। (स्वा. वि. वा. ७२)

अतएव हिन्दू लोग अतीत के इतिहास की जितनी ही आलोचना करेंगे, उनका भविष्य उतना ही उज्ज्वल होगा; और जो कोई इस अतीत के बारे में प्रत्येक व्यक्ति को विज्ञ करने की चेष्टा कर रहे हैं, वे ही स्वजाति के परम हितकारी हैं। भारत की अवनति इसलिए नहीं हुई कि हमारे पूर्व पुरुषों के नियम एवं आचार-व्यवहार खराब थे, वरन् उसकी अवनति का कारण यह था कि उन नियमों और आचार-व्यवहारों का न्यायत: जो परिणाम होना

चाहिए था, उसमें उनको परिणत नहीं होने दिया गया। (ह.भा. २३)

इस देश में साध्य तो अनेक हैं, किन्तु साधन नहीं। मस्तिष्क तो है, परन्तु हाथ नहीं। हम लोगों के पास वेदान्त मत है, लेकिन उसे कार्य रूप में परिणत करने की क्षमता नहीं है। हमारे ग्रन्थों में सार्वभौम साम्यवाद का सिद्धान्त है, किन्तु कार्यों में महा भेदवृत्ति है। महा निःस्वार्थ, निष्काम कर्म भारत में ही प्रचारित हुआ, परन्तु हमारे कर्म अत्यन्त निर्मम और अत्यन्त हृदयहीन हुआ करते हैं और मांसपिण्ड की अपनी इस काया को छोड़कर, अन्य किसी विषय में हम सोचते ही नहीं। ... मेरा भी विश्वास है कि यदि हतश्री, अभागे, निर्बुद्धि, पददलित, चिरबुभुक्षित, झगड़ालू और ईर्ष्यालु भारतवासियों को कोई हृदय से प्यार करने लगे तो भारत पुनः जाग्रत हो जायगा। भारत तभी जायेगा जब विशाल हृदयवाले सैकड़ों स्त्री-पुरुष भोगविलास और सुख की सभी इच्छाओं को विसर्जित कर मन, वचन और शरीर से उन करोड़ों भारतीयों के कल्याण के लिए सचेष्ट होंगे जो दरिद्रता तथा मूर्खता के अगाध सागर में निरन्तर डूबते जा रहे हैं।

(वि.सा.खं. ६, ३०७)

भारत के सभी अनर्थों की जड़ है – जनसाधारण की गरीबी। पाश्चात्य देशों के गरीब तो निरे पशु हैं, उनकी तुलना में हमारे यहाँ के गरीब तो देवता हैं। इसीलिए हमारे यहाँ के गरीबों की उन्नति करना अपेक्षाकृत सहज है। अपने निम्नश्रेणीवालों के प्रति हमारा एकमात्र कर्तव्य है – उनको शिक्षा देना, उन्हें सिखाना कि इस संसार में तुम भी मनुष्य हो, तुम लोग भी प्रयत्न करने पर अपनी सब प्रकार से उन्नति कर सकते हो। अभी वे लोग यह भाव खो बैठे हैं। (पत्रा. १३४)

पिछले पौन सौ वर्षों में भारत वर्ष में सुधारसभाओं और सुधारकों की बहुत चहल-पहल रही है। पर शोक की बात यह है कि उनमें से प्रत्येक यत्न असफल रहा। उन लोगों को समाजसुधार का यथार्थ रहस्य विदित नहीं था। उन्होंने यथार्थ में सीखने लायक बड़ी बात को नहीं सीखा। उतावली में उन लोगों ने हमारे समाज के सारे दोषों का उत्तरदायित्व धर्म के मत्थे मढ़ दिया और कथा में वर्णित अपने मित्र के कपाल पर बैठे हुए मच्छर को मारने की इच्छा करनेवाले मनुष्य की तरह अपने मित्र और मच्छर दोनों को शायद उन्होंने एक साथ ही मार डाला होता, परन्तु सौभाग्य से यहाँ तो स्वयं ही अचल चट्टानों पर जाकर टकराये और उस टकराने की चोट से अपना ही अस्तित्व खो बैठे। उन उदार निःस्वार्थ आत्माओं को धन्य है जो अपने विपथगामी प्रयत्नों में श्रम उठाते हुए असफल रहे। उनके सुधार के प्रति उत्साहरूपी वैद्युतिक आघातों की उस निद्रामग्न समाजरूपी कुम्भकर्ण को अत्यन्त आवश्यकता थी। पर वे पूर्णतः विनाशात्मक थे, रचनात्मक नहीं; और इसी कारण मरणशील थे, अतः मर गये। चलिये, हम उन्हें आशीर्वाद दें और उनके अनुभव से लाभ उठायें। ... जब तक सम्पूर्ण हिन्दू जाति निर्मूल न हो जाय और उसकी भूमि को नयी जाति अधिकृत न कर ले तब तक समाज के ऐसे विप्लवकारी संस्कार सम्भव नहीं हैं। चाहे पूर्व प्रयत्न करे चाहे पश्चिम, भारत कभी युरोप नहीं बन सकता, जब तक कि वह मर मिट न जाय। (हि.ध.प. २५-२६)

किन्तु भलीभाँति स्मरण रखिये, यदि आप धर्म छोड़कर पाश्चात्य जाति की जड़वाद-सर्वस्व सभ्यता के पीछे दौड़ियेगा, तो आपका तीन ही पीढ़ियों में विनाश निश्चित है। धर्म छोड़ने से हिन्दू जाति का मेरुदण्ड ही टूट जायगा – जिस भित्ति के ऊपर यह जातीय सुविशाल सौध खड़ा है, वही नष्ट हो जायगा, फिर तो सर्वनाश रखा ही है। (भा.वि. ६३)

हे भाइयो, हम सभी लोगों को इस समय कठिन परिश्रम करना होगा। अब सोने का समय नहीं है। हमारे कार्यों पर भारत का भविष्य निर्भर है। यह देखिये, भारतमाता धीरे धीरे आँखें खोल रही हैं। वे कुछ देर सोयी थीं। उठिये, उन्हें जगाइये और पूर्वपेक्षा महागौरवमण्डित करके भक्तिभाव से उन्हें अपने चिरन्तन सिंहासन पर प्रतिष्ठित कीजिये। (भा.वि. ६४)

निन्दावाद को एकदम छोड़ दो। तुम्हारा मुँह बन्द हो और हृदय खुल जाय। इस देश और सारे जगत् का उद्धार करो। तुम लोगों में से प्रत्येक को यह सोचना होगा कि सारा भार तुम्हारे ही ऊपर है। वेदान्त का आलोक घर घर ले जाओ, घर घर में वेदान्त के आदर्श पर जीवन गठित हो। प्रत्येक जीवात्मा में जो ईश्वरत्व अन्तर्निहित है, उसे जगाओ। (भा.वि. १२२)

अपने स्नायु को बलवान बनाओ। हमें लोहे के पुट्ठे और फौलाद के स्नायु की आवश्यकता है। हम लोग बहुत दिन रो चुके। अब और रोने की आवश्यकता नहीं है। अब अपने पैरों पर खड़े हो जाओ और मनुष्य बनो। (भा.वि. १५३)

दृढ़चित्त बनो और इससे भी बढ़कर पूर्ण पवित्र और कपटशून्य बनो; विश्वास रखो कि तुम्हारा भविष्य अत्यन्त गौरवपूर्ण है। ... जिनके पास धन-दौलत नहीं है, जो गरीब हैं, केवल उन्हें लोगों का भरोसा है, और चूँकि तुम गरीब हो, इसीलिए तुम्हारे द्वारा यह कार्य होगा। चूँकि तुम्हारे पास कुछ नहीं है, इसीलिए तुम कपटता से शून्य हो सकते हो और अकपट होने के कारण ही तुम सब कुछ त्याग करने के लिए तैयार हो सकते हो। बस, केवल यही बात मैं तुमसे अभी अभी कह रहा था। (भा.वि. ४४१-४२)

ऐ बच्चो, सब के लिए तुम्हारे दिल में दर्द हो – गरीब, मूर्ख, पददलित मनुष्यों के दुःख का तुम अनुभव करो, समवेदना से तुम्हारे हृदय का स्पन्दन रुक जाय, मस्तिष्क चकराने लगे, तुम्हें ऐसा प्रतीत हो कि हम पागल तो नहीं बन रहे हैं – फिर ईश्वर के चरणों में अपना दिल खोल दो, तभी शक्ति सहायता और अदम्य उत्साह तुम्हें मिल जायगा। गत दस वर्षों से मैं अपना मूलमन्त्र घोषित करता आया हूँ – प्रयत्न करते रहो! और अब भी मैं कहता हूँ कि अविराम प्रयत्न करते चलो। जब चारों ओर अन्धकार ही अन्धकार दीखता था तब मैं कहता था – प्रयत्न करते रहो; अब तो थोड़ा थोड़ा उजाला दिखायी दे रहा है, पर अब भी मैं कहता हूँ कि प्रयत्न करते जाओ। वत्स, डरो मत। (पत्रा. १, २१०)

उत्साह से हृदय भर लो और सब जगह फैल जाओ। काम करो, काम करो। नेतृत्व करते समय सब के दास हो जाओ, निःस्वार्थ होओ और कभी एक मित्र को पीछे पीछे दूसरे की निन्दा करते मत सुनो। अनन्त धैर्य रखो, तभी सफलता तुम्हारे हाथ आयगी। ... सतर्क रहो! जो कुछ असत्य है, उसे पास न फटकने दो। सत्य पर डटे रहो, बस तभी हम सफल होंगे – शायद थोड़ा अधिक समय लगे, पर सफल हम अवश्य होंगे। इस तरह काम करते जाओ कि मानो मैं कभी था ही नहीं। इस तरह काम करो की मानो तुममें से हरएक के ऊपर सारा काम निर्भर है। भविष्य की पचास सदियाँ तुम्हारी ओर ताक रही हैं – भारत का भविष्य तुम पर निर्भर है! काम करते जाओ। (पत्रा. १, २१३-१४)

मेरी आशा, मेरा विश्वास नवीन पीढ़ी के नवयुवकों पर है। उन्हीं में से मैं अपने कार्यकर्ताओं का संग्रह करूँगा। वे सिंहविक्रम से देश की यथार्थ उन्नति सम्बन्धी सारी समस्या का समाधान करेंगे। वर्तमान काल में अनुष्ठेय आदर्श को मैंने एक निर्दिष्ट रूप में व्यक्त कर दिया है और उसको कार्यान्वित करने के लिए मैंने अपना जीवन समर्पित कर दिया है। ... वे एक केन्द्र से दूसरे केन्द्र का विस्तार करेंगे – और इस प्रकार हम धीरे धीरे समग्र भारत में फैल जायेंगे। (स्वा.वि.वा. ७४)

अनेक लड़कों की आवश्यकता है जो सब कुछ छोड़-छाड़कर देश के लिए जीवनोत्सर्ग करें। पहले उनका जीवन निर्माण करना होगा, तब कहीं काम होगा। (वि.क. ९८-९९)

दूसरों के लिए रत्ती भर काम करने से भीतर की शक्ति जाग उठती है; दूसरों के लिए रत्ती भर सोचने से धीरे धीरे हृदय में सिंह का सा बल आ जाता है। तुम लोगों से मैं इतना स्नेह करता हूँ परन्तु यदि तुम लोग दुसरों के लिए परिश्रम करते करते मर भी जाओ तो भी उसे देखकर मुझे प्रसन्नता ही होगी। ... काम में लग जा – कितने दिनों के लिए है यह जीवन? संसार में जब आया है तो एक स्मृति छोड़कर जा। वरना पेड़ पत्थर भी तो पैदा तथा नष्ट होते रहते हैं। (वि.सं २१८-१९)

हमें इस अवसर पर मुख्यतः आवश्यकता है एक वीर के आदर्श की – ऐसा वीर जिसके सिर से लेकर पैर तक नस नस में प्रचण्ड 'रजस्' की भावना ओतप्रोत हो – ऐसा वीर जो सत्य को जानने के लिए कूद पड़े और प्राणों तक का मोह न करे – वह वीर जिसका कवच त्याग हो और खड्ग ज्ञान। हमें इस समय जीवन के युद्धक्षेत्र में आवश्यक है बहादुर सेनानी का जोश, न कि प्रणय में दीवाने व्यक्ति की भावुकता जो जीवन में सब्ज बाग ही देखता रहता है।

आत्मविश्वास रख। तुम्हीं लोग तो पूर्व काल में वैदिक ऋषि थे। अब

केवल शरीर बदल कर आये हो। मैं दिव्य चक्षु से देख रहा हूँ, तुम लोगों में अनन्त शक्ति है। उस शक्ति को जगा दे; उठ, उठ, लग जा, कमर कस। क्या होगा दो दिन का धन-मान लेकर? मेरा भाव जानता है? – मैं मुक्ति आदि नहीं चाहता हूँ। मेरा काम है तुम लोगों में इन्हीं भावों को जगा देना। एक मनुष्य तैयार करने में लाख जन्म भी लेने पड़े तो मैं उसके लिए भी तैयार हूँ। (वि.सं. २५६)

अरे, मृत्यु जब अवश्यम्भावी है, तो कीट-पतंगों की तरह मरने के बजाय वीर की तरह मरना अच्छा है। इस अनित्य संसार में दो दिन अधिक जीवित रहकर भी क्या लाभ? It is better to wear out than to rust out. जराजीर्ण होकर थोड़ा थोड़ा करके क्षीण होते हुए मरने के बजाय वीर की तरह दूसरों के अल्प कल्याण के लिए भी लड़कर उसी समय मर जाना क्या अच्छा नहीं है? (वि.सं. २५६)

देह में शक्ति नहीं, हृदय में उत्साह नहीं, मस्तिष्क में प्रतिभा नहीं – क्या होगा रे इन जड़ पिण्डों से? मैं हिला-डुलाकर इनमें स्पन्दन लाना चाहता हूँ। इसलिए मैंने प्राणान्त प्रण किया है। वेदान्त के अमोघ मन्त्र से उन्हें जगाऊँगा। 'उत्तिष्ठत जाग्रत' इस अभयवाणी को सुनाने के लिए ही मेरा जन्म हुआ है। तुम लोग इस काम में मेरे सहायक बनो। (वि.सं. २६५)

संख्या से कुछ आता-जाता नहीं, धन या दरिद्रता से कुछ आता जाता नहीं, मनसा-वाचा-कर्मणा यदि ऐक्य हो तो मुट्ठी भर लोग दुनिया को उलट दे सकते हैं – यह विश्वास न भूलना। बाधा जितनी ही होगी उतना ही अच्छा है। बाधा बिना पाये क्या कभी नदी का वेग बढ़ता है? जो वस्तु जितनी नयी होगी, जितनी अच्छी होगी वह वस्तु पहलेपहल उतनी ही बाधा पायेगी। बाधा ही तो सिद्धि का पूर्व लक्षण है। (परि. ८७)

मान हो या अपमान, मैंने तो इन नवयुवकों का संगठन करने के लिए जन्म लिया है। यहीं क्या, प्रत्येक नगर में सैकड़ों मेरे साथ सम्मिलित होने को तैयार हैं, और मैं यह चाहता हूँ कि इन्हें अबाध्य गतिशील तरंगों के समान मैं भारत में सब ओर भेजूँ; और जो लोग दीन, हीन, एवं पददलित हैं, उनके द्वार पर सुख-स्वाच्छन्ध, नीति, धर्म एवं शिक्षा पहुँचाऊँ। और

यह कार्य मैं करूँगा या मरूँगा। (पत्रा. १, १०६)

यदि तुम सचमुच मेरी सन्तान हो, तो तुम किसी वस्तु से न डरोगे और किसी बात पर न रुकोगे। तुम सिंहतुल्य होगे। हमें भारत को और पूरे संसार को जाग्रत करना है। ... मेरी सन्तान को आवश्यकता होने पर एवं अपने कार्य की सिद्धि के लिए आग में कूदने को भी तैयार रहना चाहिए। (पत्रा. १, २४६, २४५)

ऐ भारत! तुम मत भूलना कि तुम्हारी स्त्रियों का आदर्श सीता, सावित्री, दमयन्ती है; मत भूलना कि तुम्हारे उपास्य सर्वत्यागी उमानाथ शंकर हैं; मत भूलना कि तुम्हारा विवाह, धन और तुम्हारा जीवन इन्द्रियसुख के लिए – अपने व्यक्तिगत सुख के लिए नहीं है; मत भूलना कि तुम जन्म से ही "माता" के लिए बलिस्वरूप रखे गये हो। ... तुम मत भूलना कि नीच, अज्ञानी, दरिद्र, चमार और मेहतर तुम्हारा रक्त और तुम्हारे भाई हैं। (व.भा. ४६)

जहाँ पर महामारी हुई हो, जहाँ पर लोगों को दुःख ही दुःख हो, जहाँ दुर्भिक्ष पड़ा हो – चला जा उस ओर और उन लोगों का दुःख दूर कर। अधिक से अधिक क्या होगा, मर ही तो जायगा। मेरे तेरे जैसे न जाने कितने कीड़े पैदा होते रहते है और मरते रहते हैं। इसे दुनिया को क्या हानि-लाभ है। एक महान् उद्देश्य लेकर मर जा। मर तो जायगा ही; पर अच्छा उद्देश्य लेकर मरना ठीक है। (वि. सं. २२०)

आप विदेशी सहायता पर कतई निर्भर न करें। व्यक्ति की तरह जाति को भी अपनी सहायता आप ही करनी होगी। यही यथार्थ में स्वदेशप्रेम है। यदि कोई जाति ऐसा करने में असमर्थ हो तो यह कहना पड़ेगा कि उसके लिए अभी समय नहीं हुआ है, उसे प्रतीक्षा करनी पड़ेगी। (पत्रा. २, ७)

मृत्युपर्यन्त काम करो – मैं तुम्हारे साथ हूँ, और जब मैं न रहूँगा, तब मेरी आत्मा तुम्हारे साथ काम करेगी। यह जीवन आता है और जाता है – नाम, यश, भोग यह सब थोड़े दिन के हैं। संसारी कीड़े की तरह मरने से अच्छा है – कहीं अधिक अच्छा है कि कर्तव्य के क्षेत्र में सत्य का उपदेश देते हुए मरो। आगे बढ़ो। (पत्रा. २, २६)

□□□

विविध उपदेश

चिन्तित न होइये। प्रबल वायु बड़े वृक्षों से ही टकराती है। "अग्नि को खुरेदने से वह अधिक प्रज्वलित होती है।" "साँप को सिर पर मारने से वह अपना फन उठाता है" इत्यादि। जब हृदय में पीड़ा होती है, जब शोक की आँधी चारों ओर से घेर लेती है, जब मालूम होता है कि प्रकाश फिर कभी न होगा, जब आशा और साहस का प्राय: लोप हो जाता है, तब इस भयंकर आध्यात्मिक तूफान में ब्रह्म की अन्तर्ज्योति चमक उठती है। वैभव की गोद में पला हुआ, फूलों में पोसा हुआ, जिसने कभी एक आँसू भी नहीं बहाया, क्या ऐसा कोई व्यक्ति कभी बड़ा हुआ है, उसका अन्तर्निहित ब्रह्मभाव कभी व्यक्त हुआ है? (पत्रा. २, २९३)

यदि हृदय और बुद्धि में विरोध उत्पन्न हो तो तुम हृदय का अनुसरण करो, क्योंकि बुद्धि केवल एक तर्क के क्षेत्र में ही काम कर सकती है, वह उसके परे जा ही नहीं सकती; पर वह केवल हृदय ही है, जो हमें उच्चतम भूमिका पर आरूढ़ करता है। वहाँ तक बुद्धि कभी नहीं पहुँच सकती। हृदय बुद्धि का अतिक्रमण कर जिसे हम 'अन्त:स्फूर्ति' कहते हैं, उसे पा लेता है। ... हृदयवान व्यक्ति 'मक्खन' पा लेते हैं और कोरे बुद्धिमानों के लिए सिर्फ 'छाछ' बच जाती है। (आ.मा. १३-१४)

कम से कम हमें सच्चे तथा अकपटी बनने का प्रयत्न करना चाहिए। यदि हम आदर्श का अनुगमन नहीं कर सकते, तो अपनी दुर्बलता स्वीकार कर लें, पर उसे हीन न बनायें, उसे अपने उच्च धरातल से न गिरायें। (म.पु.जी.गा. ११३)

आपको यह स्मरण रखना चाहिए कि मानवजाति की गति सदैव एक सत्य से दूसरे सत्य की ओर रही है; असत्य से – भ्रम से सत्य एवं यथार्थ

की ओर नहीं; या यदि आप इसी भाव को अन्य शब्दों में व्यक्त करना पसन्द करें, तो मानवजाति निरन्तर सत्य से उच्चतर सत्य की ओर प्रयाण करती है, असत्य से सत्य की ओर नहीं। (म.पु.जी.गा. ११८)

जो प्राणी जितना ही निम्नस्तर का होगा, उसे इन्द्रियजनित सुखों में उतना ही आनन्द मिलेगा। बहुत कम मनुष्य ऐसे मिलेंगे, जिन्हें भोजन करते समय वैसा ही उल्लास होता है, जैसा किसी कुत्ते या भेड़िये को। किन्तु याद रहे कि कुत्ते और भेड़िये के सारे सुख इन्द्रियों तक ही सीमित हैं। निम्नकोटि के मनुष्यों को इन्द्रियजनित सुखों में ही आनन्द मिलता है। किन्तु जो लोग सुसंस्कृत एवं सुशिक्षित हैं, उन्हें चिन्तन, दर्शन, कला और विज्ञान में आनन्द मिलता है। आध्यात्मिकता उससे भी उच्चतर स्तर की है। (ध.त. १४)

संसार का इतिहास बुद्ध और ईसा जैसे व्यक्तियों का इतिहास है। वासनामुक्त तथा अनासक्त व्यक्ति ही संसार का सर्वाधिक हित करते हैं। (भ.बु.सं. ११२)

प्रत्येक सफल मनुष्य के स्वभाव से कहीं न कहीं असामान्य ईमानदारी और सच्चाई छिपी रहती है और उसीके कारण उसे जीवन में इतनी सफलता मिलती है। वह पूर्णतया स्वार्थहीन न रहा हो, पर वह उसकी ओर अग्रसर होता रहा था। यदि वह सम्पूर्ण रूप से स्वार्थहीन होता, तो उसकी सफलता वैसी ही महान् होती, जैसे बुद्ध या ईसा की। सर्वत्र नि:स्वार्थता की मात्रा पर ही सफलता की मात्रा निर्भर रहती है। (वि.प्र. ३)

जिन लोगों में सत्य, पवित्रता और नि:स्वार्थपरता विद्यमान है, उन्हें स्वर्ग, मर्त्य एवं पाताल की कोई भी शक्ति कोई क्षति नहीं पहुँचा सकती। इन गुणों के रहने पर, चाहे समस्त विश्व ही किसी व्यक्ति के विरुद्ध क्यों न हो जाय, वह अकेला ही उसका सामना कर सकता है। (ह.भा. २-३)

बढ़े चलो! यदि तुम सोचते हो कि तुमने कोई अनुचित कार्य किया है तो भी पीछे फिरकर न देखो। यदि पहले तुमने इन गलतियों को न किया होता तो क्या तुम विश्वास करते हो कि आज तुम जैसे हो, वैसे कभी हो

सकते? अतः अपनी भूलों को आशीर्वाद दो। वे अदृश्य देवदूतों के समान रही हैं। तुम धन्य हो, दुःख! धन्य हो, सुख! तुम्हारे मत्थे क्या आता है इसकी परवाह न करो! आदर्श को पकड़े रहो। आगे बढ़ते चलो।

(वि.प्र. २४)

परोपकार ही धर्म है; परपीड़न पाप। शक्ति और पौरुष पुण्य है, कमजोरी और कायरता पाप! स्वतन्त्रता पुण्य है, पराधीनता पाप। दूसरों से प्रेम करना पुण्य है, दूसरों से घृणा करना पाप। परमात्मा में और अपने आप में विश्वास पुण्य है; सन्देह ही पाप है। एकता का ध्यान पुण्य है; अनेकता देखना ही पाप। (सू.सु. ८५)

आजकल यदि कोई मूसा, बुद्ध अथवा ईसा की उक्ति उद्धृत करता है, तो उसकी हँसी उड़ायी जाती है; किन्तु हक्सले, टिण्डल अथवा डारविन का नाम लेते ही बात एकदम अकाट्य और प्रामाणिक बन जाती है। 'हक्सले ने ऐसा कहा है' इतना कहना ही बहुतों के लिए पर्याप्त है! हम लोग सचमुच अन्धविश्वास से मुक्त हैं! पहले था धर्म का कुसंस्कार, अब है विज्ञान का कुसंस्कार; फिर भी पहले के कुसंस्कार में से एक जीवनप्रद आध्यात्मिक भाव आता था, पर आधुनिक कुसंस्कार के भीतर से तो केवल काम और लोभ आ रहे हैं। वह अन्धविश्वास था ईश्वर की उपासना को लेकर, और आजकल का अन्धविश्वास में महाघृणित धन, यश और शक्ति की उपासना को लेकर। बस यही भेद है। (ज्ञा.यो. ४५-४६)

यथार्थ साम्यभाव न तो कभी संसार में हुआ है और न कभी होने की आशा है। यहाँ हम सब समान हो ही कैसे सकते हैं? इस प्रकार के असम्भव साम्यभाव का फल तो मृत्यु ही होगा! ... वह क्या चीज है जो मनुष्य मनुष्य में भेद स्थापित करती है? – वह है मस्तिष्क की भिन्नता। आजकल के दिनों में एक पागल के अतिरिक्त और कोई भी यह न कहेगा कि हम सब मस्तिष्क की समान शक्ति लेकर उत्पन्न हुए हैं।

(क.यो. १३६-३७)

जीवन में मेरी सर्वोच्च अभिलाषा यह है कि ऐसा चक्र-प्रवर्तन कर

दूँ, जो कि उच्च एवं श्रेष्ठ विचारों को सब के द्वार द्वार पर पहुँचा दे। फिर स्त्री-पुरुषों को अपने भाग्य का निर्णय स्वयं करने दो। हमारे पूर्वजों ने तथा अन्य देशों ने जीवन के महत्त्वपूर्ण प्रश्नों पर क्या विचार किया है, यह सर्वसाधारण को जानने दो। विशेषकर उन्हें देखने दो कि और लोग क्या कर रहे हैं। फिर उन्हें अपना निर्णय करने दो। रासायनिक द्रव्य इकट्ठे कर दो और प्रकृति के नियमानुसार वे किसी विशेष आकार को धारण कर लेंगे। ... परिश्रम करो, अटल रहो। "धर्म को बिना हानि पहुँचाये जनता की उन्नति" – इसे अपना आदर्श-वाक्य बना लो। (पत्रा. २, १०३)

लोग तुम्हारी स्तुति करें या निन्दा, लक्ष्मी तुम्हारे ऊपर कृपावती हों या न हों, तुम्हारा देहान्त आज हो या युग भर बाद, तुम न्यायपथ से कभी भ्रष्ट न हो। कितने ही तूफान पार करने पर मनुष्य शान्ति के राज्य में पहुँचता है। जो जितना बड़ा हुआ है, उसके लिए उतनी ही कठिन परीक्षा रखी गयी है। (वि.सं. १४३)

मेरा यह दृढ़ विश्वास था कि कपट से जगत् में कोई महान् कार्य नहीं होता। (वि.सं. १४२)

मैंने अपने जीवन में यह अनुभव किया कि जो स्वयं के लिए अति सावधान रहना चाहता है, पग पग पर उसे विपत्ति का सामना करना पड़ता है। जो सम्मान से डरता है, उसकी अवमानना होती है। जो सदा नुकसान से घबराता है, उसके भाग्य में सदा नुकसान ही उपस्थित है। (पत्रा. २,१६४)

मेरे जीवन का क्या व्रत है, यह मैं स्वयं जानता हूँ। किसी जातिविशेष पर न मेरा तीव्र अनुराग है और न घोर विद्वेष ही। मैं जैसे भारत का हूँ, वैसे ही समग्र जगत् का भी हूँ। ... क्या तुम कहना चाहते हो कि मैं जातिभेद-जर्जरित, कुसंस्कारयुक्त, दयारहित, कपटी, नास्तिक कायरों में से एक बनकर जीने मरने के लिए पैदा हुआ हूँ जिन्हें तुम केवल शिक्षित हिन्दुओं में ही पाते हो? मैं कायरता को घृणा की दृष्टि से देखता हूँ। कायर तथा राजनैतिक मूर्खता के साथ मैं अपना सम्बन्ध नहीं रखना चाहता। किसी प्रकार की राजनीति में मुझे विश्वास नहीं है। ईश्वर तथा सत्य ही जगत् में एकमात्र राजनीति है,

बाकी सब कूड़ा-करकट है। (पत्रा. १, ३५०-५२)

यदि आत्मा के जीवन में मुझे आनन्द नहीं मिलता, तो क्या मैं इन्द्रियों के जीवन में आनन्द पाऊँगा? यदि मुझे अमृत नहीं मिलता, तो क्या मैं गड्ढे के पानी से प्यास बुझाऊँ? (सू.सु. २०-२१)

तुम शुद्धस्वरूप हो, उठो, जाग्रत हो जाओ। हे महान्, यह नींद तुम्हें शोभा नहीं देती। उठो, यह मोह तुम्हें भाता नहीं। तुम अपने को दुर्बल और दुःखी समझते हो? हे सर्वशक्तिमान, उठो, जाग्रत होओ, अपना स्वरूप प्रकाशित करो। तुम अपने को पापी समझते हो, यह तुम्हें शोभा नहीं देता। तुम अपने को दुर्बल समझते हो, यह तुम्हारे लिए उचित नहीं है। जगत् से यही कहते रहो, अपने से यही कहते रहो – देखो इसका क्या शुभफल होता है; देखो, कैसी बिजली जैसी शक्ति से सम्पूर्ण तत्त्व प्रकाशित होता है और सब कुछ कैसे परिवर्तित हो जाता है। मनुष्यजाति से यही कहते रहो – उसे उसकी शक्ति दिखा दो। (व्या.जी.वे. २०)

मेरी आशा, विश्वास तुम्ही लोग हो। मेरी बातों को ठीक ठीक समझकर उसीके काम में लग जा। ... उपदेश तो तुझे अनेक दिये; कम से कम एक उपदेश को भी तो काम में परिणत कर ले। बड़ा कल्याण हो जायगा। दुनिया भी देखे कि तेरा शास्त्र पढ़ना तथा मेरी बातें सुनना सार्थक हुआ है।

(वि.सं. २५४-५५)

□□□

संदर्भ सूची

पुस्तक का नाम	संस्करण	संक्षेप
व्यावहारिक जीवन में वेदान्त	तृतीय	व्या.जी.वे.
भगवान बुद्ध का संसार को सन्देश एवं अन्य व्याख्यान और प्रवचन	प्रथम	भ.बु.सं.
भारत में विवेकानन्द	चतुर्थ	भा.वि.
शिकागो वक्तृता	दशम	शि.व.
ज्ञानयोग	चतुर्थ	ज्ञा.यो.
सूक्तियाँ एवं सुभाषित	द्वितीय	सू.सु.
आत्मानुभूति तथा उसके मार्ग	षष्ठ	आ.मा.
राजयोग	चतुर्थ	रा.यो.
विवेकानन्द जी के संग में	तृतीय	वि.सं.
पत्रावली-प्रथम भाग	द्वितीय	पत्रा. १
पत्रावली-द्वितीय भाग	द्वितीय	पत्रा. २
धर्मरहस्य	चतुर्थ	ध.र.
सरल राजयोग	तृतीय	स.रा.यो.
महापुरुषों की जीवनगाथाएँ	त्रयोदश	म.पु.जी.गा.
स्वामी विवेकानन्दजी की जीवनी (अंग्रेजी)	सप्तम	स्वा.वि.जी.–अं.
स्वामी विवेकानन्दजी के संस्मरण (अंग्रेजी)	द्वितीय	स्वा.वि.सं.
कर्मयोग	सप्तम	क.यो.
धर्मतत्त्व	प्रथम	ध.त.
विविध प्रसंग	द्वितीय	वि.प्र.
विवेकानन्दजी के सान्निध्य में	द्वितीय	वि.सा.
स्वामी विवेकानन्दजी से वार्तालाप	तृतीय	स्वा.वि.वा.

भारतीय नारी	षष्ठ	भा.ना.
मेरा जीवन तथा ध्येय	पंचम	मे.जी.ध्ये.
नारद-भक्ति-सूत्र एवं भक्तिविषयक प्रवचन और आख्यान	प्रथम	ना.भ.प्र.आ.
वर्तमान भारत	षष्ठ	व.भा.
भारत का ऐतिहासिक क्रमविकास एवं अन्य प्रबन्ध	प्रथम	भा.ऐ.क्र.
विवेकानन्दजी की कथाएँ	पंचम	वि.क.
वेदान्त	प्रथम	वे.
हिन्दू धर्म के पक्ष में	चतुर्थ	हि.ध.प.
विवेकानन्द साहित्य (१० खंडों में)	प्रथम	वि.सा.खं.
प्राच्य और पाश्चात्य	षष्ठ	प्रा.पा.
परिव्राजक	षष्ठ	परि.
हमारा भारत	तृतीय	ह.भा.

□□□

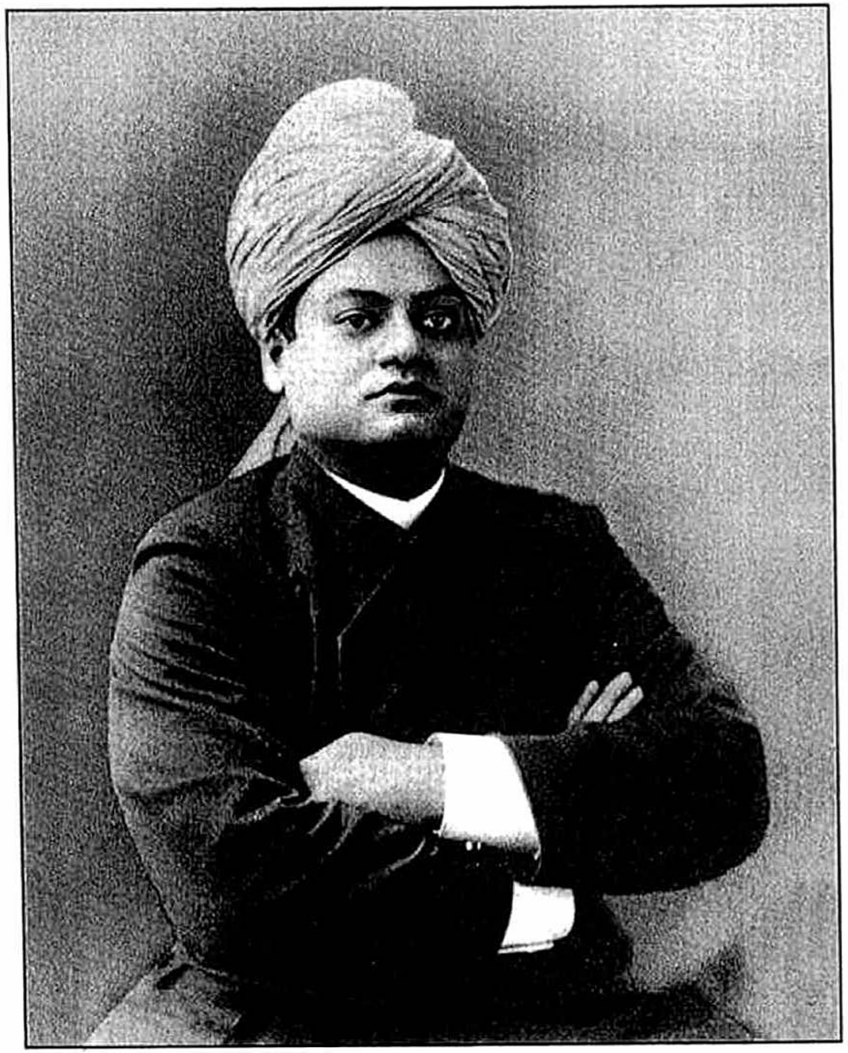

शिकागो के धर्म महासभा में

कर्म का चरित्र पर प्रभाव

कर्म शब्द 'कृ' धातु से निकला है; 'कृ' धातु का अर्थ है करना। जो कुछ किया जाता है, वही कर्म है। इस शब्द का पारिभाषिक अर्थ 'कर्मफल' भी होता है। दार्शनिक दृष्टि से इसका अर्थ कभी कभी वे फल होते हैं, जिनका कारण हमारे पूर्व कर्म रहते हैं। परन्तु कर्मयोग में 'कर्म' शब्द से हमारा आशय केवल 'कार्य' ही है। मानव जाति का चरम लक्ष्य ज्ञानलाभ है। प्राच्य दर्शनशास्त्र हमारे सम्मुख एकमात्र यही लक्ष्य रखता है। मनुष्य का अन्तिम लक्ष्य सुख नहीं, वरन् ज्ञान है। सुख और आनन्द विनाशशील हैं। अतः सुख को चरम लक्ष्य मान लेना भूल है, संसार में सब दुःखों का मूल यही है कि मनुष्य मूर्खतावश सुख को ही अपना आदर्श समझ लेता है। पर कुछ समय के बाद मनुष्य को यह बोध होता है कि जिसकी ओर वह जा रहा है, वह सुख नहीं, वरन् ज्ञान है, तथा सुख और दुःख दोनों ही महान् शिक्षक हैं, और जितनी शिक्षा उसे शुभ से मिलती है, उतनी ही अशुभ से भी। सुख और दुःख आत्मा के सम्मुख होकर जाने में उसके ऊपर अनेक प्रकार के चित्र अंकित कर जाते हैं। और इन संस्कारों की समष्टि के फल को ही मानव का 'चरित्र' कहा जाता है। यदि तुम किसी मनुष्य का चरित्र देखो, तो प्रतीत होगा कि वास्तव में वह उसकी मानसिक प्रवृत्तियों एवं मानसिक झुकाव की समष्टि ही है। तुम यह भी देखोगे कि उसके चरित्र-गठन में सुख और दुःख, दोनों ही समान रूप से उपादानस्वरूप हैं। चरित्र को एक विशिष्ट ढाँचे में ढालने में शुभ और अशुभ, दोनों का समान अंश रहता है, और कभी कभी तो दुःख सुख से भी बड़ा शिक्षक हो जाता है। यदि हम संसार के महापुरुषों के चरित्र का अध्ययन करें, तो मैं कह सकता हूँ कि अधिकांश दृष्टांतों में हम यही देखेंगे कि सुख की अपेक्षा दुःख ने, तथा सम्पत्ति की अपेक्षा दारिद्र्य ने ही उन्हें अधिक शिक्षा दी है एवं प्रशंसा की अपेक्षा आघातों ने ही उनकी अन्तःस्थ अग्नि को अधिक प्रस्फुरित किया है।

अब, यह ज्ञान मनुष्य में अन्तर्निहित है। कोई भी ज्ञान बाहर से नहीं आता, सब अन्दर ही है। हम जो कहते हैं कि मनुष्य 'जानता' है, उसे ठीक ठीक मनोवैज्ञानिक भाषा में व्यक्त करने पर हमें कहना चाहिए कि वह 'आविष्कार करता' है। मनुष्य जो कुछ 'सीखता' है, वह वास्तव में 'आविष्कार करना' ही है।

'आविष्कार' का अर्थ है—मनुष्य का अपनी अनन्त ज्ञानस्वरूप आत्मा के ऊपर से आवरण को हटा लेना। हम कहते हैं कि न्यूटन ने गुरुत्वाकर्षण का आविष्कार किया। तो क्या वह आविष्कार कहीं एक कोने में बैठा हुआ न्यूटन की प्रतीक्षा कर रहा था? वह उसके मन में ही था। समय आया और उसने उसे ढूँढ़ निकाला। संसार ने जो कुछ ज्ञान लाभ किया है, वह मन से ही निकला है। विश्व का असीम पुस्तकालय तुम्हारे मन में ही विद्यमान है। बाह्य जगत् तो तुम्हें अपने मन के अध्ययन में लगाने के लिए उद्दीपक तथा अवसर मात्र है; परन्तु सारे समय तुम्हारे अध्ययन का विषय तुम्हारा मन ही रहता है। सेब के गिरने ने न्यूटन को उद्दीपक प्रदान किया और उसने अपने मन का अध्ययन किया। उसने अपने मन में पूर्व से स्थित विचार-श्रृंखला की कड़ियों को एक बार फिर से विन्यस्त किया तथा उनमें एक नयी कड़ी का आविष्कार किया। उसीको हम गुरुत्वाकर्षण का नियम कहते हैं। यह न तो सेब में था और न पृथ्वी के केन्द्र में स्थित किसी अन्य वस्तु में। अतएव समस्त ज्ञान, चाहे वह व्यावहारिक हो अथवा परमार्थिक, मनुष्य के मन में ही निहित है। बहुधा यह प्रकाशित न होकर ढका रहता है, और जब आवरण धीरे धीरे हटता जाता है, तो हम कहते हैं कि 'हमें ज्ञान हो रहा है'। ज्यों ज्यों इस आविष्करण की क्रिया बढ़ती जाती है, त्यों त्यों हमारे ज्ञान की वृद्धि होती जाती है। जिस मनुष्य पर से यह आवरण उठता जा रहा है, वह अन्य व्यक्तियों की अपेक्षा अधिक ज्ञानी है, और जिस मनुष्य पर यह आवरण तह पर तह पड़ा है, वह अज्ञानी है। जिस मनुष्य पर से यह आवरण बिल्कुल चला जाता है, वह सर्वज्ञ पुरुष कहलाता है। अतीत में कितने ही सर्वज्ञ हो चुके हैं और मेरा विश्वास है कि अब भी बहुत से होंगे तथा आगामी युगों में भी ऐसे असंख्य पुरुष जन्म लेंगे। जिस प्रकार एक चकमक पत्थर के टुकड़े में अग्नि निहित रहती है, उसी प्रकार मनुष्य के मन में ज्ञान रहता है। उद्दीपक घर्षण का कार्य करके उसको प्रकाशित कर देता है। ठीक ऐसा ही हमारी समस्त भावनाओं और कार्यों के सम्बन्ध में भी है। यदि हम शान्त होकर स्वयं का अध्ययन करें, तो प्रतीत होगा कि हमारा हँसना-रोना, सुख-दुःख,, हर्ष-विषाद, हमारी शुभ कामनाएँ एवं शाप, स्तुति और निन्दा, ये सब हमारे मन के ऊपर अनेक घात-प्रतिघातों के फल-स्वरूप उत्पन्न हुए हैं। और हम जो कुछ हैं, इसीके फ़ल हैं। ये सब घात-प्रतिघात मिलकर 'कर्म' कहलाते हैं। आत्मा की आभ्यन्तरिक अग्नि तथा उसकी अपनी शक्ति एवं ज्ञान को बाहर प्रकट करने के लिए जो मानसिक अथवा भौतिक घात उस पर पहुँचाये जाते हैं, वे ही कर्म हैं। यहाँ कर्म शब्द का उपयोग व्यापक रूप में किया गया है। इस प्रकार, हम सब प्रतिक्षण ही कर्म करते रहते हैं। मैं तुमसे

बातचीत कर रहा हूँ—यह कर्म है; तुम सुन रहे हो—यह भी कर्म है; हमारा साँस लेना, चलना आदि भी कर्म हैं; जो कुछ हम करते हैं, वह शारीरिक हो अथवा मानसिक, सब कर्म ही है; और हमारे ऊपर वह अपने चिह्न अंकित कर जाता है।

कुछ कार्य ऐसे भी होते हैं, जो अनेक छोटे छोटे कर्मों की समष्टि जैसे होते हैं। उदाहरणार्थ, यदि हम समुद्र के किनारे खड़े हों और लहरों को किनारे से टकराते हुए सुनें, तो ऐसा मालूम होता है कि एक बड़ी भारी आवाज़ हो रही है। परन्तु हम जानते हैं कि एक बड़ी लहर असंख्यात छोटी छोटी लहरों से बनी है। और यद्यपि प्रत्येक छोटी लहर अपना शब्द करती है, परन्तु फिर भी वह हमें सुन नहीं पड़ता। पर ज्यों ही ये सब शब्द आपस में मिलकर एक हो जाते हैं, त्यों ही हमें बड़ी आवाज़ सुनायी देती है। इसी प्रकार हृदय की प्रत्येक धड़कन कार्य है। कई कार्य ऐसे होते हैं, जिनका हम अनुभव करते हैं, वे हमें इन्द्रियग्राह्य हो जाते हैं, पर वे अनेक छोटे छोटे कार्यों की समष्टि होते हैं। यदि तुम सचमुच किसी मनुष्य के चरित्र को जाँचना चाहते हो, तो उसके बड़े कार्यों पर से उसकी जाँच मत करो। हर एक मूर्ख किसी विशेष अवसर पर बहादुर बन सकता है। मनुष्य के अत्यन्त साधारण कार्यों की जाँच करो, और असल में वे ही ऐसी बातें हैं, जिनसे तुम्हें एक महान् पुरुष के वास्तविक चरित्र का पता लग सकता है। आकस्मिक अवसर तो छोटे से छोटे मनुष्य को भी किसी न किसी प्रकार का बड़प्पन दे देते हैं। परन्तु वास्तव में महान् तो वही है, जिसका चरित्र सदैव और सब अवस्थाओं में महान् तथा एकसम रहता है।

मनुष्य का जिन शक्तियों के साथ संपर्क होता है, उन सबमें कर्म की शक्ति सबसे अधिक प्रबल होती है, जो मनुष्य के चरित्र पर प्रभाव डालती है। मनुष्य एक प्रकार का केन्द्र जैसा है, वह संसार की समस्त शक्तियों को अपनी ओर खींचता है, तथा इस केन्द्र में उन सबको संयुक्त कर उन्हें फिर एक बड़ी तरंग के रूप में बाहर भेजता है। यह केन्द्र ही 'वास्तविक' मानव है—सर्वशक्तिमान तथा सर्वज्ञ, और यह समस्त विश्व को अपनी ओर खींच रहा है। शुभ-अशुभ, सुख-दुःख सब उसकी ओर दौड़े जा रहे हैं, और उससे लिपटे जा रहे हैं। और यह उन सबमें से प्रवृत्ति की उस प्रबल धारा को बनाता है, जिसे चरित्र कहते हैं, और उसे बाहर प्रेषित करता है। जिस प्रकार किसी चीज़ को अपनी ओर खींच लेने की उसमें शक्ति है, उसी प्रकार उसे बाहर भेजने की भी शक्ति उसमें है।

संसार में हम जो सब कार्य-कलाप देखते हैं, मानव-समाज में जो सब गति हो रही है, हमारे चारों ओर जो कुछ हो रहा है, वह सब मन की ही अभिव्यक्ति

है—मनुष्य की इच्छा-शक्ति का ही प्रकाश है। कलें, यंत्र, नगर, जहाज़, युद्धपोत आदि सभी मनुष्य की इच्छा-शक्ति के विकास मात्र हैं। मनुष्य की यह इच्छा-शक्ति चरित्र से उत्पन्न होती है और वह चरित्र कर्मों से गठित होता है। अतएव, जैसा कर्म होता है, इच्छा-शक्ति की अभिव्यक्ति भी वैसी ही होती है। संसार में प्रबल इच्छा-शक्तिसम्पन्न जितने महापुरुष हुए हैं, वे सभी धुरन्धर कर्मी दिग्गज आत्मा थे। उनकी इच्छा-शक्ति ऐसी ज़बरदस्त थी कि वे संसार को भी उलट-पुलट सकते थे। और यह शक्ति उन्हें युग-युगान्तर तक निरन्तर कर्म करते रहने से प्राप्त हुई थी। एक बुद्ध या ईसा मसीह की सी प्रबल इच्छा-शक्ति एक जन्म में प्राप्त नहीं की जा सकती, क्योंकि हमें ज्ञात है कि उनके पिता कौन थे। हम नहीं कह सकते कि उनके पिता के मुँह से मनुष्य-जाति के कल्याण के लिए शायद कभी एक शब्द भी निकला हो। जोसेफ (ईसा मसीह के पिता) के समान तो लाखों और करोड़ों बढ़ई हो गये और आज भी हैं; बुद्ध के पिता के सदृश लाखों छोटे छोटे राजा हो चुके हैं। अतः यदि यह बात केवल आनुवंशिक संक्रमण के ही कारण हुई हो, तो इसकी व्याख्या कैसे कर सकते हो कि इस छोटे से राजा ने, जिसकी आज्ञा का पालन शायद उसके स्वयं के नौकर भी नहीं करते थे, एक ऐसा पुत्र उत्पन्न किया, जिसकी उपासना लगभग आधा संसार करता है? इसी प्रकार, उस बढ़ई तथा संसार में लाखों लोगों द्वारा ईश्वर के समान पूजे जानेवाले उसके पुत्र के बीच जो अन्तर है, उसकी क्या व्याख्या हो सकती है? आनुवंशिक सिद्धान्त के द्वारा तो इसका स्पष्टीकरण नहीं हो सकता। बुद्ध और ईसा इस संसार में जिस महा संकल्प का संचार कर गये, वह कहाँ से आया? इतनी शक्ति का संचय कैसे हुआ? अवश्य ही वह युग-युगान्तरों से उस स्थान में रही होगी, और क्रमशः बढ़ते बढ़ते अन्त में बुद्ध तथा ईसा के रूप में उसका विस्फोट समाज पर हुआ और तब से वह आज तक प्रवाहित हो रही है।

यह सब कर्म द्वारा ही निर्धारित होता है। यह सनातन नियम है कि जब तक कोई मनुष्य किसी वस्तु का उपार्जन न करे, तब तक वह उसे प्राप्त नहीं हो सकती। सम्भव है, कभी कभी हम इस बात को न मानें, परन्तु आगे चलकर हमें इसका दृढ़ विश्वास हो जाता है। एक मनुष्य चाहे समस्त जीवन भर धनी होने के लिए एड़ी-चोटी का पसीना एक करता रहे, हज़ारों मनुष्यों को धोखा दे, परन्तु अन्त में वह देखता है कि वह सम्पत्तिशाली होने का अधिकारी नहीं था, तब जीवन उसके लिए दुःखमय और कंटकित बन जाता है। हम अपने भौतिक सुखों के लिए भिन्न भिन्न चीज़ों को भले ही इकट्ठा करते जायँ, परन्तु जिसका उपार्जन हम करते हैं, वही हमारा होता है। एक मूर्ख संसार भर की सारी पुस्तकें

मोल लेकर भले ही अपने पुस्तकालय में रख ले, परन्तु वह केवल उन्हींको पढ़ सकेगा, जिनको पढ़ने का वह अधिकारी होगा, और यह अधिकार कर्म द्वारा ही प्राप्त होता है। हम किसके अधिकारी हैं, हम अपने भीतर क्या क्या ग्रहण कर सकते हैं, इस सबका निर्णय कर्म द्वारा ही होता है। अपनी वर्तमान अवस्था के जिम्मेदार हमीं हैं, और जो कुछ हम होना चाहें, उसकी शक्ति भी हमींमें है। यदि हमारी वर्तमान अवस्था हमारे ही पूर्व कर्मों का फल है, तो यह निश्चित है कि जो कुछ हम भविष्य में होना चाहते हैं, वह हमारे वर्तमान कर्मों द्वारा ही निर्धारित किया जा सकता है। अतएव यह जान लेना आवश्यक है कि कर्म किस प्रकार किये जायँ। सम्भव है, तुम कहो, "कर्म करने की शैली जानने से क्या लाभ? संसार में प्रत्येक मनुष्य किसी न किसी प्रकार से तो काम करता ही रहता है।" परन्तु यह भी ध्यान रखना चाहिए कि शक्तियों का निरर्थक क्षय भी कोई चीज़ होती है। गीता का कथन है, 'कर्मयोग का अर्थ है—कुशलता से अर्थात् वैज्ञानिक प्रणाली से कर्म करना।' कर्मानुष्ठान की विधि ठीक ठीक जानने से मनुष्य को श्रेष्ठतम फल प्राप्त हो सकता है। यह स्मरण-रखना चाहिए कि समस्त कर्मों का उद्देश्य है, मन के भीतर पहले से ही स्थित शक्ति को प्रकट कर देना—आत्मा को जाग्रत कर देना। प्रत्येक मनुष्य के भीतर शक्ति और पूर्ण ज्ञान विद्यमान है। भिन्न-भिन्न कर्म इन महान् शक्तियों को जाग्रत करने तथा बाहर प्रकट कर देने के लिए आघात सदृश हैं।

मनुष्य विविध प्रेरणाओं से कार्य किया करता है, क्योंकि बिना प्रेरणा या हेतु के कार्य नहीं हो सकता। कुछ लोग यश चाहते हैं, और वे यश के लिए काम करते हैं। दूसरे पैसा चाहते हैं, और वे पैसे के लिए काम करते हैं। फिर कोई अधिकार प्राप्त करना चाहते हैं, और वे अधिकार के लिए काम करते हैं। कुछ और स्वर्ग पाना चाहते हैं, और वे उसीके लिए प्रयत्न करते हैं। फिर कुछ लोग मरने के बाद अपना नाम छोड़ जाने के इच्छुक होते हैं, जैसे चीन देश में। वहाँ मृत्यु के बाद ही उसे उपाधि दी जाती है; विचार करके देखने पर यह प्रथा हमारे यहाँ की अपेक्षा अच्छी ही कही जा सकती है। वहाँ जब कोई विशेष श्रेष्ठ कार्य करता है, तो उसके दिवंगत पिता या पितामह को एक अभिजात उपाधि प्रदान कर दी जाती है। कुछ लोग इसीके निमित्त काम करते हैं। इस्लाम धर्म के कुछ सम्प्रदायों के अनुयायी इस बात के लिए आजन्म काम करते रहते हैं कि मृत्यु के बाद उनका एक बड़ा मक़बरा बने। मैं कुछ ऐसे सम्प्रदायों को जानता हूँ, जिनमें बच्चे के पैदा होते ही उसके लिए एक मक़बरा बना दिया जाता है, और यही उन लोगों के अनुसार मनुष्य का सबसे महत्त्वपूर्ण काम होता है। जिसका

मक़बरा जितना बड़ा और सुन्दर होता है, वह उतना ही अधिक सुखी समझा जाता है। कुछ लोग प्रायश्चित्त के रूपमें कर्म किया करते हैं, अर्थात् अपने जीवन भर अनेक प्रकार के दुष्ट कर्म कर चुकने के बाद एक मन्दिर बनवा देते हैं अथवा पुरोहितों को कुछ धन दे देते हैं, जिससे वे उनको खरीदकर प्रसन्न कर लें और उनसे स्वर्ग का टिकट खरीद लें! वे सोचते हैं कि इस पुण्य से रास्ता साफ़ हो गया, अब हम अपने पापों के बावजूद निर्विघ्न चले जायँगे। कार्य की विविध प्रेरणाओं में से कुछ ये हैं।

कार्य के निमित्त ही कार्य। प्रत्येक देश में कुछ ऐसे नर-रत्न होते हैं, जो केवल कर्म के लिए ही कर्म करते हैं। वे नाम-यश अथवा स्वर्ग की भी परवाह नहीं करते। वे केवल इसलिए कर्म करते हैं कि उससे कुछ कल्याण होगा, कुछ लोग ऐसे भी होते हैं, जो और भी उच्चतर उद्देश्य लेकर ग़रीबों के प्रति भलाई तथा मनुष्य-जाति की सहायता करने के लिए अग्रसर होते हैं, क्योंकि वे शुभ में विश्वास करते हैं और उससे प्रेम करते हैं। नाम तथा यश के लिए किया गया कार्य बहुधा शीघ्र फलित नहीं होता। ये चीज़ें हमें उस समय प्राप्त होती हैं, जब हम वृद्ध हो जाते हैं और ज़िन्दगी की आखिरी घड़ियाँ गिनते रहते हैं। यदि कोई मनुष्य निःस्वार्थ भाव से कार्य करे, तो क्या उसे कोई फलप्राप्ति नहीं होती? असल में तभी तो उसे सर्वोच्च फल की प्राप्ति होती है। और सच पूछा जाय, तो निःस्वार्थता अधिक फलदायी होती है, केवल लोगों में इसका अभ्यास करने का धैर्य नहीं होता। स्वास्थ्य की दृष्टि से भी यह अधिक लाभदायक है। प्रेम, सत्य तथा निःस्वार्थता नैतिकतासम्बन्धी आलंकारिक वर्णन मात्र नहीं हैं, वरन् शक्ति की महान् अभिव्यक्ति होने के कारण वे हमारे सर्वोच्च आदर्श हैं, पहली बात यह है कि यदि कोई मनुष्य पाँच दिन, उतना क्यों, पाँच मिनट भी बिना भविष्य का चिन्तन किये, बिना स्वर्ग, नरक या अन्य किसी के सम्बन्ध में सोचे, निःस्वार्थता से काम कर सकता है, तो उसमें एक महान् आत्मा बन सकने की क्षमता है। यद्यपि इसे कार्यरूप में परिणत करना कठिन है, फिर भी अपने हृदय के अन्तस्तल से हम इसका महत्त्व समझते हैं और जानते हैं कि इससे क्या मंगल होता है। यह प्रचंड निग्रह शक्ति की महत्तम अभिव्यक्ति है। अन्य सब बहिर्मुखी कर्मों की अपेक्षा यह आत्म-निग्रह शक्ति की कहीं बड़ी अभिव्यक्ति है। एक चार घोड़ोंवाली गाड़ी पहाड़ी के उतार पर बड़ी आसानी से बिना रोके आ सकती है, अथवा सईस घोड़ों को रोक सकता है। किन्तु अधिक शक्ति की अभिव्यक्ति घोड़ों को छोड़ देने में है, अथवा उन्हें रोकने में? एक तोप का गोला हवा में काफ़ी दूर तक चला जाता है और फिर गिर पड़ता है। परन्तु दूसरा दीवार से टकराकर रुक जाने से उतनी दूर नहीं जा सकता, पर उस टकराने से विपुल ताप की उत्पत्ति होती है। इसी प्रकार, मन की सारी बहिर्मुखी गति किसी स्वार्थपूर्ण उद्देश्य की ओर दौड़ती रहने से छिन्न-भिन्न होकर बिखर जाती है; वह फिर तुम्हारे पास शक्ति लौटाकर नहीं लाती। परन्तु यदि उसका संयम किया जाय, तो उससे शक्ति की वृद्धि होती है। इस आत्मसंयम से महान् इच्छा-शक्ति का प्रादुर्भाव होता है; वह बुद्ध या ईसा जैसे चरित्र का निर्माण करता है। मूर्खों को इस रहस्य का पता नहीं रहता, परन्तु फिर भी वे मनुष्य-जाति पर शासन करने के इच्छुक रहते हैं। एक मूर्ख भी यदि कर्म करे और प्रतीक्षा करे, तो समस्त संसार पर शासन कर सकता है। यदि वह कुछ वर्ष तक प्रतीक्षा करे तथा अपने इस मूर्खता-जन्य जगत्-शासन के भाव को संयत कर ले, तो इस भाव के समूल नष्ट होते ही वह संसार में एक शक्ति बन जायगा। परन्तु जिस प्रकार कुछ पशु अपने से दो-चार क़दम आगे कुछ नहीं देख सकते, इसी प्रकार हममें से अधिकांश लोग दो-चार वर्ष के आगे भविष्य नहीं देख सकते। हमारा संसार मानो एक क्षुद्र परिधि सा होता है, हम बस उसीमें आबद्ध रहते हैं। उसके परे देखने का धैर्य हममें नहीं रहता और इसीलिए हम दुष्ट और अनैतिक हो जाते हैं। यह हमारी कमजोरी है—शक्तिहीनता है।

अत्यन्त निम्नतम कर्मों को भी तिरस्कार की दृष्टि से नहीं देखना चाहिए। जो मनुष्य कोई श्रेष्ठ आदर्श नहीं जानता, उसे स्वार्थदृष्टि से ही—नाम-यश के लिए ही—काम करने दो। परन्तु प्रत्येक मनुष्य को उच्चतर ध्येयों की ओर बढ़ने तथा उन्हें समझने का यत्न करते रहना चाहिए। 'हमें कर्म करने का ही अधिकार है, कर्मफल में हमारा कोई अधिकार नहीं।'[1] कर्मफलों को एक ओर रहने दो, उनकी चिन्ता हमें क्यों हो? यदि तुम किसी मनुष्य की सहायता करना चाहते हो, तो इस बात की कभी चिन्ता न करो कि उसका व्यवहार तुम्हारे प्रति कैसा होना चाहिए। यदि तुम एक श्रेष्ठ एवं उत्तम कार्य करना चाहते हो, तो यह सोचने का कष्ट मत करो कि उसका फल क्या होगा।

अब कर्म के इस आदर्श के सम्बन्ध में एक कठिन प्रश्न उठता है। कर्मयोगी के लिए सतत कर्मशीलता आवश्यक है; हमें सदैव कर्म करते रहना चाहिए। बिना कार्य के हम एक क्षण भी नहीं रह सकते। तो विश्राम के विषय में क्या कहा जा सकता है? यहाँ इस जीवन-संग्राम का एक पक्ष है कर्म, जिसके तीव्र भँवर में फँसे हम लोग चक्कर काट रहे हैं। दूसरा पक्ष है शान्ति का—निवृत्तिमुखी

१. कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन ॥गीता ॥२।४७॥

त्याग का। चारों ओर सब शान्त, पूर्ण है, किसी प्रकार का कोलाहल और दिखावा नहीं, केवल प्रकृति अपने प्राणियों, पुष्पों और पर्वतों के साथ विद्यमान है। पर इन दोनों में कोई भी पूर्ण आदर्श चित्र नहीं है। यदि किसी एकान्तवासी व्यक्ति को संसार के चक्र में घसीट लाया जाय, तो वह उससे उसी प्रकार ध्वस्त हो जायगा, जिस प्रकार समुद्र की गहराई में रहनेवाली एक विशेष प्रकार की मछली पानी की सतह पर लाये जाते ही टुकड़े टुकड़े हो जाती है; क्योंकि सतह पर पानी का वह दबाव नहीं है, जिसके कारण वह जीवित रहती थी। इसी प्रकार एक ऐसा मनुष्य, जो सांसारिक तथा सामाजिक जीवन के कोलाहल का अभ्यस्त रहा है, यदि किसी नीरव स्थान में ले आया जाय, तो क्या वह आराम से रह सकेगा? कदापि नहीं। उसे क्लेश होगा और सम्भव है, उसका मस्तिष्क ही फिर जाय। आदर्श पुरुष तो वे हैं, जो परम शान्ति एवं निस्तब्धता के बीच भी तीव्र कर्म का तथा प्रबल कर्मशीलता के बीच भी मरुस्थल की शान्ति एवं निस्तब्धता का अनुभव करते हैं। उन्होंने संयम का रहस्य जान लिया है—अपने ऊपर विजय प्राप्त कर चुके हैं। किसी बड़े शहर की भरी हुई सड़कों के बीच से जाने पर भी उनका मन उसी प्रकार शान्त रहता है, मानो वे किसी निःशब्द गुफा में हों, और फिर भी उनका मन सारे समय कर्म में तीव्र रूप से लगा रहता है। यही कर्मयोग का आदर्श है, और यदि तुमने यह प्राप्त कर लिया है, तो तुम्हें वास्तव में कर्म का रहस्य ज्ञात हो गया।

परन्तु हमें आरम्भ से ही आरम्भ करना पड़ेगा, जो कार्य हमारे सामने आयें, उन्हें हम हाथ में लें और शनैः शनैः हम अपने को प्रतिदिन निःस्वार्थ बनाने का प्रयत्न करें। हमें कर्म करते रहना चाहिए तथा यह पता लगाना चाहिए कि उस कार्य के पीछे हमारी प्रेरक शक्ति क्या है। ऐसा होने पर हम देखेंगे कि आरम्भिक वर्षों में प्रायः हमारी सभी कार्यों का हेतु स्वार्थपूर्ण रहता है। किन्तु धीरे धीरे यह स्वार्थपरायणता अध्यवसाय से नष्ट हो जायगी, और अन्त में वह समय आ जायगा, जब हम वास्तव में स्वार्थ से रहित होकर कार्य करने के योग्य हो सकेंगे। हम सभी यह आशा कर सकते हैं कि जीवन-पथ में संघर्ष करते करते किसी न किसी दिन वह समय अवश्य ही आयेगा, जब हम पूर्ण रूप से निःस्वार्थ बन जायँगे; और ज्यों ही हम उस अवस्था को प्राप्त कर लेंगे, हमारी समस्त शक्तियाँ केन्द्रीभूत हो जायँगी तथा हमारा आभ्यन्तरिक ज्ञान प्रकट हो जायगा।

'हरेक अपने क्षेत्र में महान् है'

सांख्य मत के अनुसार प्रकृति—सत्त्व, रज तथा तम—इन तीन शक्तियों से निर्मित है। भौतिक जगत् में इन तीन शक्तियों की अभिव्यक्ति साम्यावस्था, क्रियाशीलता तथा जड़ता के रूप में दिखायी पड़ती है। तम की अभिव्यक्ति अन्धकार अथवा कर्मशून्यता के रूप में होती है, रज की कर्मशीलता अर्थात् आकर्षण एवं विकर्षण के रूप में, और सत्त्व इन दोनों की साम्यावस्था है।

प्रत्येक व्यक्ति में ये तीन शक्तियाँ होती हैं। कभी कभी तमोगुण प्रबल होता है, तब हम सुस्त हो जाते हैं, हिल-डुल तक नहीं सकते और कुछ विशिष्ट भावनाओं अथवा जड़ता से ही आबद्ध होकर निष्क्रिय हो जाते हैं। फिर कभी कभी कर्मशीलता का प्राबल्य होता है; और कभी कभी इन दोनों के सामंजस्य सत्त्व की प्रबलता होती है। फिर, भिन्न भिन्न मनुष्यों में इन गुणों में से कोई एक सबसे प्रबल होता है। एक मनुष्य में निष्क्रियता, सुस्ती और आलस्य के गुण प्रबल रहते हैं; दूसरे में क्रियाशीलता, उत्साह एवं शक्ति के, और तीसरे में हम शान्ति, मृदुता एव माधुर्य का भाव देखते हैं, जो पूर्वोक्त दोनों गुणों अर्थात् सक्रियता एवं निष्क्रियता का सामंजस्य होता है। इस प्रकार सम्पूर्ण सृष्टि में—पशुओं, वृक्षों और मनुष्यों में—हमें इन विभिन्न शक्तियों का न्यूनाधिक मात्रा में, वैशिष्टचपूर्ण अभिव्यक्ति दिखायी देती है।

कर्मयोग का सम्बन्ध मुख्यतः इन तीन शक्तियों से है। उनके स्वरूप के विषय में तथा उनका उपयोग कैसे करना चाहिए, यह बतलाकर कर्मयोग हमें अपना कार्य अच्छी तरह से करने की शिक्षा देता है। मानव-समाज एक श्रेणीबद्ध संगठन है। हम सभी जानते हैं कि सदाचार तथा कर्तव्य किसे कहते हैं; परन्तु फिर भी हम देखते हैं कि भिन्न भिन्न देशों में सदाचार के सम्बन्ध में अलग अलग धारणाएँ हैं। एक देश में जो बात सदाचार मानी जाती है, दूसरे देश में वही नितान्त दुराचार समझी जा सकती है। उदाहरणार्थ, एक देश में चचेरे भाई-बहिन आपस में विवाह कर सकते हैं, परन्तु दूसरे देश में यही बात अत्यन्त अनैतिक मानी जाती है। किसी देश में लोग अपनी साली से विवाह कर सकते हैं, परन्तु यही बात दूसरे देश में अनैतिक समझी जाती है। फिर कहीं कहीं लोग एक ही बार विवाह कर सकते हैं और कहीं कहीं कई बार, इत्यादि इत्यादि। इसी प्रकार, सदाचार की अन्यान्य

बातों के सम्बन्ध में भी विभिन्न देशों के मानदंड बहुत भिन्न होते हैं। फिर भी हमारी यह धारणा है कि सदाचार का एक सार्वभौमिक मानदंड अवश्य है।

यही बात कर्तव्य के विषय में भी है। भिन्न भिन्न जातियों में कर्तव्य की धारणा भिन्न होती है। किसी देश में यदि कोई व्यक्ति कुछ विशिष्ट कार्य नहीं करता, तो लोग उस पर दोषारोपण करते हैं; परन्तु अन्य किसी देश में यदि वह व्यक्ति वही कार्य करता है, तो वहाँ के लोग कहते हैं कि उसने ठीक नहीं किया। फिर भी हम जानते हैं कि कर्तव्य का एक सार्वभौमिक आदर्श अवश्य है। इसी प्रकार, समाज का एक वर्ग सोचता है कि कुछ विशिष्ट बातें ही कर्तव्य हैं; परन्तु दूसरे वर्ग का विचार बिल्कुल विपरीत होता है और वह उन कार्यों को करना पातक समझेगा। अब हमारे सम्मुख दो मार्ग खुले हैं। एक अज्ञानी का, जो सोचता है कि सत्य का मार्ग केवल एक ही है तथा शेष सब ग़लत हैं; और दूसरा ज्ञानी का, जो यह मानता है कि हमारी मानसिक दशा तथा परिस्थिति के अनुसार कर्तव्य तथा सदाचार भिन्न भिन्न हो सकते हैं। अतएव जानने योग्य प्रधान बात यह है कि कर्तव्य तथा सदाचार के विभिन्न स्तर होते हैं, और जीवन की एक अवस्था के, एक परिस्थिति के कर्तव्य दूसरी परिस्थिति के कर्तव्य नहीं हो सकते।

उदाहरणार्थ, सब महापुरुषों का उपदेश है कि 'अशुभ का प्रतिरोध न करो', अप्रतिरोध ही सर्वोच्च नैतिक आदर्श है। हम जानते हैं कि यदि हममें कुछ लोग इस सूत्र को पूर्णतः चरितार्थ करने लगें, तो समाज का सारा संघटन ही छिन्न-भिन्न हो जायगा। दुष्ट लोग हमारी जान और माल पर हाथ मारने और मनमानी करने लगेंगे। यदि इस प्रकार का 'अप्रतिरोध-धर्म' एक दिन भी आचरण में लाया जाय, तो बड़ी गड़बड़ी मच जायगी। परन्तु फिर भी अपने हृदय के अन्तस्तल से हम 'अशुभ का प्रतिरोध न करो' उपदेश की सत्यता अनुभव करते रहते हैं। हमें वह सर्वोच्च आदर्श प्रतीत होता है; परन्तु केवल इसी मत का प्रचार करना अधिकांश मानवता की भर्त्सना करना होगा। इतना ही नहीं, बल्कि इसके द्वारा मनुष्यों को सदा यही अनुभव होने लगेगा कि वे अन्याय ही कर रहे हैं। उनके हृदय में प्रत्येक कार्य के बारे में संकल्प-विकल्प सा होने लगेगा, उनका मन दुर्बल हो जायगा तथा अन्य किसी दुर्गुण की अपेक्षा यह सतत आत्म-धिक्कार उनमें अधिक दुर्गुणों को उत्पन्न कर देगा। जो व्यक्ति अपने प्रति घृणा करने लगा है, उसके पतन का द्वार खुल चुका है, और यही बात राष्ट्र के सम्बन्ध में भी सत्य है।

हमारा पहला कर्तव्य यह है कि अपने प्रति घृणा न करें; क्योंकि आगे बढ़ने के लिए यह आवश्यक है कि पहले हम स्वयं में विश्वास रखें और फिर ईश्वर में।

जिसे स्वयं में विश्वास नहीं, उसे ईश्वर में कभी भी विश्वास नहीं हो सकता। अतएव हमारे लिये जो एकमात्र रास्ता रह जाता है, वह यह कि हम समझ लें कि कर्तव्य तथा सदाचार की धारणा विभिन्न परिस्थितियों के अनुसार बदलती रहती है। यह बात नहीं कि जो मनुष्य अशुभ का प्रतिरोध कर रहा है, वह कुछ ऐसा करता है, जो सदा और स्वभावतः अन्यायपूर्ण है, वरन् जिस भिन्न परिस्थिति में वह है, उसमें अशुभ का प्रतिरोध करना ही उसका कर्तव्य हो सकता है।

सम्भव है, भगवद्गीता का द्वितीय अध्याय पढ़कर तुम पाश्चात्य देशवालों में से बहुतों को आश्चर्य हुआ हो, क्योंकि वहाँ शत्रुओं के मित्र एवं संबंधी होने के कारण अर्जुन के उनसे युद्ध करने से अस्वीकार करने तथा अप्रतिरोध को प्रेम का सर्वोच्च आदर्श मानने पर श्री कृष्ण ने अर्जुन को ढोंगी तथा डरपोक कहा है। इस महान् सत्य को हम सबको अवगत कर लेना चाहिए कि सभी विषयों में दोनों चरम अवस्थाएँ एक सदृश होती हैं। चरम 'अस्ति' और चरम 'नास्ति', दोनों सदैव एक समान होते हैं। उदाहरणार्थ, प्रकाश का स्पन्दन यदि अत्यन्त मंद होता है, तो हम उसे नहीं देख सकते; और इसी प्रकार जब वह अत्यन्त तीव्र होता है, तब भी हम उसे देखने में असमर्थ होते हैं। 'ध्वनि' के सम्बन्ध में भी ठीक ऐसा ही है। न तो उसके तार-स्वर के बहुत निम्न होने पर हम उसे सुन सकते हैं और न उसके बहुत उच्च होने पर। इसी प्रकार का भेद 'प्रतिरोध' तथा 'अप्रतिरोध' में है। एक मनुष्य इसलिए प्रतिरोध नहीं करता कि वह कमजोर है, सुस्त है, असमर्थ है; दूसरी ओर एक दूसरा मनुष्य है, जो यह जानता है कि यदि वह चाहे, तो ज़बर्दस्त प्रतिरोध कर सकता है, परन्तु फिर भी वह केवल अप्रतिरोध ही नहीं करता, वरन् अपने शत्रुओं के प्रति शुभ कामनाएँ भी प्रकट करता है। अतः वह मनुष्य जो दुर्बलता के कारण प्रतिरोध नहीं करता, पापग्रस्त होता है और इसलिए अप्रतिरोध से कोई लाभ नहीं उठा सकता; परन्तु दूसरा मनुष्य यदि प्रतिरोध करे, तो वह भी पाप का भागी होता है। बुद्ध ने जो अपना राजवैभव तथा सिंहासन छोड़ दिया, उसे हम सच्चा त्याग कह सकते हैं; परन्तु एक भिखारी के सम्बन्ध में त्याग का कोई प्रश्न ही नहीं उठता, क्योंकि उसके पास तो त्याग करने को कुछ है ही नहीं। अतएव जब हम 'अप्रतिरोध' तथा 'आदर्श प्रेम' की बात करते हैं, तब यह विशेष रूप से ध्यान रखना आवश्यक है कि हम किस विषय की ओर लक्ष्य कर रहे हैं। हमें पहले यह अच्छी तरह सोच लेना चाहिए कि हममें प्रतिरोध की शक्ति है भी या नहीं। तब फिर शक्तिशाली होते हुए भी यदि हम प्रतिरोध न करें, तो वास्तव में हम एक महान् कार्य करते हैं; परन्तु यदि हम प्रतिरोध कर ही न सकते हों, और फिर भी भ्रमवश यही सोचते रहें कि हम उच्च प्रेम की प्रेरणा

से ही यह कार्य कर रहे हैं, तो यह पहले के ठीक विपरीत ही होगा। अपने विपक्ष में शक्तिशाली सेना को खड़ी देखकर अर्जुन कायर हो गया; उसके 'प्रेम' ने उसे अपने देश तथा राजा के प्रति अपने कर्तव्य को विस्मृत करा दिया। इसीलिए तो भगवान् श्रीकृष्ण ने उससे कहा कि तू ढोंगी है, 'एक ज्ञानी के सदृश तू बातें तो करता है, परन्तु तेरे कर्म कायरों जैसे हैं। इसलिए तू उठ, खड़ा हो और युद्ध कर।'

यह है कर्मयोग का केन्द्रीय भाव। कर्मयोगी वही है, जो समझता है कि सर्वोच्च आदर्श 'अप्रतिरोध' है, जो जानता है कि यह अप्रतिरोध ही मनुष्य की अपनी शक्ति की उच्चतम अभिव्यक्ति है और जो यह भी जानता है कि जिसे हम 'अन्याय का प्रतिरोध' कहते हैं, वह इस अप्रतिरोध की उच्चतम शक्ति की प्राप्ति के मार्ग में केवल एक सीढ़ी मात्र है। इस सर्वोच्च आदर्श को प्राप्त करने के पहले अन्याय का प्रतिकार करना मनुष्य का कर्तव्य है। पहले वह कार्य करे, युद्ध करे, यथाशक्ति प्रतिद्वन्द्विता करे। जब उसमें प्रतिरोध की शक्ति आ जायगी, तभी 'अप्रतिरोध' उसके लिए एक गुणस्वरूप होगा।

अपने देश में एक बार एक व्यक्ति के साथ मेरी मुलाकात हुई। मैं पहले से ही जानता था कि वह आलसी और बुद्धिहीन है। न वह कुछ जानता था और न उसे कुछ जानने की स्पृहा थी, वह पशुवत् अपना जीवन व्यतीत करता था। उसने मुझसे प्रश्न किया, "भगवान् की प्राप्ति के लिए मुझे क्या करना चाहिए? मैं किस प्रकार मुक्त हो सकूँगा?" मैंने उससे पूछा, "क्या तुम झूठ बोल सकते हो?" उसने उत्तर दिया, "नहीं।" मैंने कहा, "तब तुम पहले झूठ बोलना सीखो। पशुवत् अथवा काष्ठ के सदृश जड़वत् जीवन यापन करने की अपेक्षा झूठ बोलना कहीं अच्छा है; तुम अकर्मण्य हो। निश्चय ही तुम उस सर्वोच्च निष्क्रिय अवस्था तक पहुँचे नहीं, जो सब कर्मों से परे और परम शान्तिपूर्ण होती है। और तो और, तुम इतने जड़भावापन्न हो कि एक बुरा कार्य करने की भी तुममें शक्ति नहीं!" अवश्य, इतने तामसिक पुरुष बहुधा नहीं होते, और सच पूछो, तो मैं उससे हँसी ही कर रहा था। पर मेरा मतलब यह था कि सम्पूर्ण निष्क्रिय अवस्था वा शान्तभाव प्राप्त करने के लिए मनुष्य को कर्मशीलता में से होकर जाना होगा।

निष्क्रियता का हर प्रकार से त्याग करना चाहिए। क्रियाशीलता का अर्थ है 'प्रतिरोध'। मानसिक तथा शारीरिक समस्त दोषों का प्रतिरोध करो, और जब तुम इस प्रतिरोध में सफल होगे, तभी शान्ति प्राप्त होगी। यह कहना बड़ा सरल है कि 'किसीसे घृणा मत करो, किसी अशुभ का प्रतिरोध मत करो', परन्तु हम जानते हैं कि इसे कार्यरूप में परिणत करना क्या है। जब सारे समाज की आँखें हमारी ओर लगी हों, तो हम अप्रतिरोध का प्रदर्शन भले ही करें, परन्तु हमारे

हृदय में वह सदैव कुरेदती रहती है। अप्रतिरोध का शान्तिजन्य अभाव हमें निरन्तर खलता रहता है; हमें ऐसा लगता है कि प्रतिरोध करना ही अच्छा है। यदि तुम्हें धन की इच्छा है और साथ ही तुम्हें यह भी मालूम है कि जो मनुष्य धन का इच्छुक है, उसे संसार दुष्ट कहता है, तो सम्भव है, तुम धन प्राप्त करने के लिए प्राणपण से चेष्टा करने का साहस न करो, परन्तु फिर भी तुम्हारा मन दिन-रात धन के पीछे ही पीछे दौड़ता रहेगा। पर यह तो सरासर मिथ्याचार है और इससे कोई लाभ नहीं होता। संसार में कूद पड़ो और जब तुम इसके समस्त सुख और दुःख भोग लोगे, तभी त्याग आयेगा—तभी शान्ति प्राप्त होगी। अतएव प्रभुत्व-लाभ की अथवा अन्य जो कुछ तुम्हारी वासना हो, वह सब पहले पूरी कर लो; और जब तुम्हारी सारी वासनाएँ पूर्ण हो जायँगी, तब एक समय ऐसा आयेगा, जब तुम्हें यह मालूम हो जायगा कि वे सब चीज़ें बहुत छोटी हैं। परन्तु जब तक तुम्हारी वह वासना तृप्त नहीं होती, जब तक तुम उस कर्मशीलता में से होकर नहीं जा चुकते, तब तक तुम्हारे लिए उस शान्तभाव एवं आत्मसमर्पण तक पहुँचना नितान्त असम्भव है। इस अनुद्वेग और त्याग का प्रचार गत हज़ारों वर्षों से होता आया है—प्रत्येक व्यक्ति इसके बारे में बचपन से सुनता आया है, परन्तु फिर भी आज संसार में हमें ऐसे बहुत कम लोग दिखायी देते हैं, जो वास्तव में उस स्थिति तक पहुँच सके हों। मैंने लगभग आधे संसार का भ्रमण कर डाला है, परन्तु मुझे शायद ऐसे बीस भी व्यक्ति नहीं मिले, जो वास्तव में शान्त तथा अप्रतिरोधी प्रकृतिवाले हों।

प्रत्येक मनुष्य का कर्तव्य है कि वह अपना आदर्श लेकर उसे चरितार्थ करने का प्रयत्न करे। दूसरों के ऐसे आदर्शों को लेकर चलने की अपेक्षा, जिनको वह पूरा ही नहीं कर सकता, अपने ही आदर्श का अनुसरण करना सफलता का अधिक निश्चित मार्ग है। उदाहरणार्थ, यदि हम एक छोटे बच्चे से एकदम बीस मील चलने को कह दें, तो या तो वह बेचारा मर जायगा, या यदि हजार में से एकाध रेंगतारेंगता कहीं पहुँचा भी, तो वह अधमरा हो जायगा। बस, हम भी संसार के साथ ऐसा ही करने का प्रयत्न करते हैं। किसी समाज के सब स्त्री-पुरुष न एक मन के होते हैं, न एक ही योग्यता के और न एक ही शक्ति के। अतएव, उनमें से प्रत्येक का आदर्श भी भिन्न भिन्न होना चाहिए; और इन आदर्शों में से एक का भी उपहास करने का हमें कोई अधिकार नहीं। अपने आदर्श को प्राप्त करने के लिए प्रत्येक को जितना हो सके, यत्न करने दो। फिर यह भी ठीक नहीं कि मैं तुम्हारे अथवा तुम मेरे आदर्श द्वारा जाँचे जाओ। सेब के पेड़ की तुलना ओक से नहीं होनी चाहिए और न ओक की सेब से। सेब के पेड़ का विचार करने के लिए सेब का मापक ही लेना होगा, और ओक के लिए उसका अपना मापक।

बहुत्व में एकत्व ही सृष्टि का विधान है। प्रत्येक स्त्री-पुरुष में व्यक्तिगत रूप से कितना भी भेद क्यों न हो, उन सबकी पृष्ठभूमि में एकत्व विद्यमान है। स्त्री-पुरुषों के भिन्न भिन्न चरित्र एवं वर्ग सृष्टि की स्वाभाविक विविधता मात्र हैं। अतएव एक ही आदर्श द्वारा सबकी जाँच करना अथवा सबके सामने एक ही आदर्श रखना किसी भी प्रकार उचित नहीं है। ऐसा करने से केवल एक अस्वाभाविक संघर्ष उत्पन्न हो जाता है और फल यह होता है कि मनुष्य स्वयं से ही घृणा करने लगता है तथा धार्मिक एवं उच्च बनने से रुक जाता है। हमारा कर्तव्य तो यह है कि हम प्रत्येक को उसके अपने उच्चतम आदर्श को प्राप्त करने के लिए प्रोत्साहित करें, तथा उस आदर्श को सत्य के जितना निकटवर्ती हो सके, लाने की चेष्टा करें।

हम देखते हैं कि हिन्दू नीतिशास्त्र में यह तत्त्व बहुत प्राचीन काल से ही स्वीकार किया जा चुका है; और हिन्दुओं के धर्मशास्त्र तथा नीति सम्बन्धी पुस्तकों में ब्रह्मचर्य, गृहस्थ तथा संन्यास, इन सब विभिन्न आश्रमों के लिए भिन्न भिन्न विधियों का वर्णन है।

हिन्दू शास्त्रों के अनुसार सार्वभौम मानवता के साधारण कर्तव्यों के अतिरिक्त प्रत्येक व्यक्ति के जीवन में कुछ विशेष कर्तव्य होते हैं। एक हिन्दू अपना जीवन छात्रावस्था से आरंभ करता है; उसके बाद वह विवाह करके गृहस्थ हो जाता है; वृद्धावस्था में गृहस्थाश्रम से अवकाश ग्रहण करता है; और अन्त में वह संसार को त्यागकर संन्यासी हो जाता है। जीवन के इन आश्रमों से भिन्न भिन्न कर्तव्य संबद्ध हैं। वास्तव में इन आश्रमों में से कोई किसीसे श्रेष्ठ नहीं हैं; एक गृहस्थ का जीवन भी उतना ही श्रेष्ठ है, जितना एक ब्रह्मचारी का, जिसने अपना जीवन धर्म-कार्य के लिए उत्सर्ग कर दिया है। सड़क का भंगी भी उतना ही उच्च तथा श्रेष्ठ है, जितना कि एक सिंहासनारूढ़ राजा। थोड़ी देर के लिए उसे गद्दी पर से उतार दो और उसे मेहतर का काम दो, फिर देखो, वह कैसे काम करता है। इसी प्रकार उस मेहत्तर को राजा बना दो; देखो, वह कैसे राज्य चलाता है। यह कहना व्यर्थ है कि 'गृहस्थ से संन्यासी श्रेष्ठ है।' संसार को छोड़कर, स्वच्छन्द और शान्त जीवन में रहकर ईश्वरोपासना करने की अपेक्षा संसार में रहते हुए ईश्वर की उपासना करना बहुत कठिन है। आज तो भारत में जीवन के ये चार आश्रम घटकर केवल दो ही रह गये हैं—गृहस्थ एवं संन्यास। गृहस्थ विवाह करता है और नागरिक बनकर अपने कर्तव्यों का पालन करता है; तथा संन्यासी अपनी समस्त शक्तियों को केवल ईश्वरोपासना एवं धर्मोपदेश में लगा देता है। मैं अब महानिर्वाण-तंत्र से गृहस्थ के कर्तव्य सम्बन्धी कुछ श्लोक उद्धृत करता हूँ। उनमें तुम देखोगे कि

किसी व्यक्ति के लिए गृहस्थ होकर अपने सब कर्तव्यों का उचित रूप से पालन करना कितना कठिन है :

ब्रह्मनिष्ठो गृहस्थः स्यात् ब्रह्मज्ञानपरायणः।
यद्यत्कर्म प्रकुर्वीत तद्ब्रह्मणि समर्पयेत् ॥८।२३॥

गृहस्थ को ब्रह्मनिष्ठ होना चाहिए तथा ब्रह्मज्ञान का लाभ ही उसके जीवन का चरम लक्ष्य होना चाहिए। परन्तु फिर भी उसे निरन्तर अपने सब कर्म करते रहना चाहिए—अपने कर्तव्यों का पालन करते रहना चाहिए; और अपने समस्त कर्मों के फलों को ईश्वर के चरणों में अर्पण कर देना चाहिए।

कर्म करके कर्मफल की आकांक्षा न करना, किसी मनुष्य की सहायता करके उससे किसी प्रकार की कृतज्ञता की आशा न रखना, कोई सत्कर्म करके भी इस बात की ओर नजर तक न देना कि वह हमें यश और कीर्ति देगा अथवा नहीं, इस संसार में सबसे कठिन बात है। संसार जब तारीफ करने लगता है, तब एक निहायत बुजदिल भी बहादुर बन जाता है। समाज के समर्थन तथा प्रशंसा से एक मूर्ख भी वीरोचित कार्य कर सकता है; परन्तु अपने आसपास के लोगों की निन्दा-स्तुति की बिल्कुल परवाह न करते हुए सर्वदा सत्कार्य में लगे रहना वास्तव में सबसे बड़ा त्याग है।

न मिथ्याभाषणं कुर्यात् न च शाठ्यं समाचरेत्।
देवतातिथिपूजासु गृहस्थो निरतो भवेत् ॥८।२४॥

गृहस्थ का प्रधान कर्तव्य जीविकोपार्जन करना है, परन्तु उसे ध्यान रखना चाहिए कि वह झूठ बोलकर, दूसरों को धोखा देकर तथा चोरी करके ऐसा न करे, और उसे यह भी याद रखना चाहिए कि उसका जीवन ईश्वर-सेवा तथा ग़रीबों के लिए ही है।

मातरं पितरञ्चैव साक्षात् प्रत्यक्षदेवताम्।
मत्वा गृही निषेवेत सदा सर्वप्रयत्नतः ॥८।२५॥

यह समझकर कि माता और पिता ईश्वर के साक्षात् रूप हैं, गृहस्थ को चाहिए कि वह उन्हें सदैव सब प्रकार से प्रसन्न रखे।

तुष्टायां मातरि शिवे तुष्टे पितरि पार्वति।
तव प्रीतिर्भवेद्देवि परब्रह्म प्रसीदति ॥८।२६॥

यदि उसके माता-पिता प्रसन्न रहते हैं, तो ईश्वर उसके प्रति प्रसन्न होते हैं।

औद्धत्यं परिहासं च तर्जनं परिभाषणम्।
पित्रोरग्रे न कुर्वीत यदीच्छेदात्मनो हितम्॥
मातरं पितरं वीक्ष्य नत्वोत्तिष्ठेत् ससंभ्रमः।
विनाज्ञया नोपविशेत् संस्थितः पितृशासने॥८।३०-३१॥

अपने माता-पिता के सम्मुख औद्धत्य, परिहास, चंचलता अथवा क्रोध प्रकट न करे। वह पुत्र वास्तव में श्रेष्ठ है, जो अपने माता-पिता के प्रति एक भी कटु शब्द नहीं कहता। माता-पिता के दर्शन कर उसे चाहिए कि वह उन्हें आदर-पूर्वक प्रणाम करे। उनके आने पर वह खड़ा हो जाय और जब तक वे उससे बैठने को न कहें, तब तक न बैठे।

मातरं पितरं पुत्रं दारानतिथिसोदरान्।
हित्वा गृही न भुञ्जीयात् प्राणैः कण्ठगतैरपि॥
वञ्चयित्वा गुरून् बन्धून् यो भुङ्क्ते स्वोदरम्भरिः।
इहैव लोके गर्ह्योऽसौ परत्र नारकी भवेत्॥८।३३-३४॥

जो गृहस्थ अपने माता, पिता, बच्चों, स्त्री तथा अतिथि को बिना भोजन कराये स्वयं कर लेता है, वह पाप का भागी होता है।

जनन्या वर्धितो देहो जनकेन प्रयोजितः।
स्वजनैः शिक्षितः प्रीत्या सोऽधमस्तान् परित्यजेत्॥
एषामर्थे महेशानि कृत्वा कष्टशतान्यपि।
प्रीणयेत् सततं शक्त्या धर्मो ह्येष सनातनः॥८।३६-३७॥

पिता-माता द्वारा ही यह शरीर उत्पन्न हुआ है, अतएव उन्हें प्रसन्न करने के लिए मनुष्य को हजार-हजार कष्ट भी सहने चाहिए।

न भार्यां ताडयेत् क्वापि मातृवत् पालयेत् सदा।
न त्यजेत् घोरकष्टेऽपि यदि साध्वी पतिव्रता॥
स्थितेषु स्वीयदारेषु स्त्रियमन्यां न संस्पृशेत्।
दुष्टेन चेतसा विद्वान् अन्यथा नारकी भवेत्॥
विरले शयनं वासं त्यजेत् प्राज्ञः परस्त्रिया।
अयुक्तभाषणञ्चैव स्त्रियं शौर्यं न दर्शयेत्॥

धनेन वाससा प्रेम्णा श्रद्धयामृतभाषणैः।
सततं तोषयेत् दारान् नाप्रियं क्वचिदाचरेत्॥८।३९-४२॥

यस्मिन्नरे महेशानि तुष्टा भार्या पतिव्रता।
सर्वो धर्मः कृतस्तेन भवतीप्रिय एव सः॥८।४४॥

इसी प्रकार मनुष्य का अपनी स्त्री के प्रति भी कर्तव्य है। गृहस्थ को अपनी स्त्री को कभी धुड़कना न चाहिए और उसका मातृवत् पालन करना चाहिए। यदि उसकी स्त्री साध्वी और पतिव्रता है, तो वह घोर कष्ट में भी उसका त्याग न करे। जो मनुष्य अपनी स्त्री के अतिरिक्त किसी दूसरी स्त्री का कलुषित मन से चिन्तन करता है, वह घोर नरक में जाता है। ज्ञानी मनुष्य को चाहिए कि वह परस्त्री के साथ निर्जन में शयन या वास न करे। स्त्रियों के सम्मुख अनुचित वाक्य न कहे, और न 'मैंने यह किया, वह किया' आदि कहकर अपने मुख से अपनी बड़ाई ही करे। अपने स्त्री को धन, वस्त्र, प्रेम, श्रद्धा एवं अमृततुल्य वाक्य द्वारा प्रसन्न रखे और उसे किसी प्रकार क्षुब्ध न करे। हे पार्वती, जो पुरुष अपनी पतिव्रता स्त्री का प्रेमभाजन बनने में सफल होता है, उसे समझो कि अपने स्वधर्म के आचरण नें सफलता मिल गयी। ऐसा व्यक्ति तुम्हारा प्रिय होता है।

चतुर्वर्षावधि सुतान् लालयेत् पालयेत् सदा।
ततः षोडशपर्यन्तं गुणान् विद्याञ्च शिक्षयेत्॥
विंशत्यब्दाधिकान् पुत्रान् प्रेरयेत् गृहकर्मसु।
ततस्तांस्तुल्यभावेन मत्वा स्नेहं प्रदर्शयेत्॥
कन्याप्येवं पालनीया शिक्षणीयातियत्नतः।
देया वराय विदुषे धनरत्नसमन्विता॥८।४५-४७॥

पुत्र-कन्या के प्रति गृहस्थ के निम्नलिखित कर्तव्य है :

चार वर्ष की अवस्था तक पुत्रों का खूब लाड़-प्यार करना चाहिए, फिर सोलह वर्ष की अवस्था तक उन्हें नानाविध सद्‌गुणों और विद्याओं की शिक्षा देनी चाहिए। जब वे बीस वर्ष के हो जायँ, तो उन्हें किसी गृह-कर्म में लगा देना चाहिए। तब पिता को चाहिए कि वह उन्हें अपनी बराबरी का समझकर उनके प्रति स्नेह-प्रदर्शन करे। ठीक इसी तरह कन्याओं का भी लालन-पालन करना चाहिए; उनकी शिक्षा बहुत ध्यानपूर्वक होनी चाहिए, और जब उनका विवाह हो, तो पिता को उन्हें धन-आभूषणादि देना चाहिए।

एवं क्रमेण भ्रातृश्च स्वसृभ्रातृसुतानपि ।
ज्ञातीन् मित्राणि भृत्यांश्च पालयेत्तोषयेद् गृही ॥
ततः स्वधर्मनिरतानेकग्रामनिवासिनः ।
अभ्यागतानुदासीनान् गृहस्थः परिपालयेत् ॥
यद्येवं नाचरेद्देवि गृहस्थो विभवे सति ।
पशुरेव स विज्ञेयः स पापी लोकगर्हितः ॥८।४८-५०॥

इसी प्रकार गृहस्थ को अपने भाई-बहिन, भतीजे, भांजे तथा अन्य सगे-सम्बन्धी मित्र एवं नौकरों का भी पालन करना चाहिए ओर उन्हें सन्तुष्ट रखना चाहिए। फिर गृहस्थ को यह भी चाहिए कि वह स्वधर्मरत अपने ग्रामवासियों, अभ्यागतों और उदासीनों का पालन करे। हे देवि, धनसम्पन्न होते हुए भी जो गृहस्थ अपने कुटुम्बियों तथा निर्धनों की सहायता नहीं करता, वह निन्दनीय और पापी है, उसे तो पशुतुल्य ही समझना चाहिए।

निद्रालस्यं देहयत्नं केशविन्यासमेव च ।
आसक्तिमशने वस्त्रे नातिरिक्तं समाचरेत् ॥
युक्ताहारो युक्तनिद्रो मितवाङ्मितमैथुनः ।
स्वच्छो नम्रः शुचिर्दक्षो युक्तः स्यात् सर्वकर्मसु ॥८।५१-५२॥

गृहस्थ को अत्यन्त निद्रा, आलस्य, देह की सेवा, केश-विन्यास तथा भोजन-वस्त्र में आसक्ति का त्याग करना चाहिए। उसे आहार, निद्रा, भाषण, मैथुन इत्यादि सब बातें परिमित रूप से करनी चाहिए। उसे अकपट, नम्र, बाह्याभ्यान्तर शौच-सम्पन्न, निरालस्य और उद्योगशील होना चाहिए।

शूरः शत्रौ विनीतः स्यात् बान्धवे गुरुसन्निधौ ॥८।५३॥

गृहस्थ को अपने शत्रु के सामने शूर होना चाहिए और गुरु और बन्धुजनों के समक्ष नम्र।

शत्रु के सम्मुख शूरता प्रकट करके उसे उस पर शासन करना चाहिए। यह गृहस्थ का आवश्यक कर्तव्य है। गृहस्थ को घर में कोने में बैठकर रोना और 'अहिंसा परमो धर्मः' कहकर खाली बकवास न करना चाहिए। यदि वह शत्रु के सम्मुख वीरता नहीं दिखाता है, तो वह अपने कर्तव्य की अवहेलना करता है। किन्तु अपने बन्धु-बान्धव, आत्मीय-स्वजन एवं गुरु के निकट उसे गौ के समान शान्त एवं निरीह भाव अवलम्बन करना चाहिए।

जुगुप्सितान् न मन्येत नावमन्येत मानिनः ।८।५३॥

निन्दित असत् व्यक्ति को वह सम्मान न दे और न सम्माननीय व्यक्ति का अनादर करे।

असत् व्यक्ति के प्रति सम्मान प्रदर्शित करना गृहस्थ का कर्तव्य नहीं है, क्योंकि ऐसा करने से वह असद्विषय को आश्रय देता है। और यदि सम्मानयोग्य व्यक्ति को वह सम्मान नहीं देता है, तो भी बड़ा अन्याय करता है।

सौहार्दं व्यवहारांश्च प्रवृत्तिं प्रकृतिं नृणाम् ।
सहवासेन तर्कैश्च विदित्वा विश्वसेत्ततः ॥८।५४॥

एक साथ रहकर, विशेष निरीक्षण के द्वारा वह पहले मनुष्य का स्नेह, व्यवहार, प्रवृत्ति और प्रकृति जान ले, फिर उस पर विश्वास करे।

ऐरे-गैरे जिस किसी भी व्यक्ति के साथ वह मित्रता न कर बैठे। जिसके साथ उसे मित्रता करने की इच्छा हो, उसके कार्य-कलाप तथा अन्य लोगों के साथ उसके व्यवहार की वह पहले भली भाँति जाँच कर ले, और फिर उससे मित्रता करे।

स्वीयं यशः पौरुषं च गुप्तये कथितं च यत् ।
कृतं यदुपकाराय धर्मज्ञो न प्रकाशयेत् ॥८।५६॥

धर्मज्ञ गृही व्यक्ति को चाहिए कि वह अपना यश, पौरुष, दूसरों की बतायी हुई गुप्त बात तथा दूसरों के प्रति उसने जो कुछ उपकार किया है, इन सबका वर्णन सर्वसाधारण के सम्मुख न करे।

उसे अपने वैभव अथवा अभाव आदि की भी बात नहीं करनी चाहिए। उसे अपने धन पर गर्व करना उचित नहीं। ऐसे विषय वह गुप्त ही रखे। यही उसका धर्म है। यह केवल सांसारिक अभिज्ञता नहीं है, यदि कोई मनुष्य ऐसा नहीं करता, तो वह दुर्नीतिपरायण कहा जा सकता है।

गृहस्थ सारे समाज की नींव सदृश है; वही मुख्य धन उपार्जन करनेवाला होता है। निर्धन, दुर्बल, स्त्री-बच्चे आदि जो कार्य करने योग्य नहीं हैं, वे सब गृहस्थ के ऊपर ही निर्भर रहते हैं। अतएव गृहस्थ को कुछ कर्तव्य करने पड़ते हैं। और ये कर्तव्य ऐसे होने चाहिए कि उनका साधन करते करते वह अपने हृदय में शक्ति का विकास अनुभव करे और ऐसा न सोचे कि वह अपने आदर्शानुसार कार्य नहीं कर रहा है। इसी कारण—

जुगुप्सितप्रवृत्तौ च निश्चितेऽपि पराजये ।
गुरुणा लघुना चापि यशस्वी न विवादयेत् ॥८।५७॥

यदि उसने कोई अन्याय अथवा निन्दनीय कार्य कर डाला है, तो उसे दूसरों के सम्मुख प्रकट नहीं करना चाहिए। इसी प्रकार यदि वह ऐसी किसी बात में लगा है, जिसमें वह अपनी असफलता निश्चित मानता है, तो उसे उसकी भी चर्चा नहीं करनी चाहिए। इस प्रकार आत्मदोष प्रकट करने से कोई लाभ तो होता नहीं, बल्कि उलटा इसके द्वारा मनुष्य हतोत्साहित हो जाता है, और इस प्रकार उसके कर्तव्य-कर्मों में बाधा पड़ती है।

विद्याधनयशोधर्मान् यत्नमान उपार्जयेत् ।
व्यसनं चासतां संगं मिथ्याद्रोहं परित्यजेत् ॥८।५८॥

उसे चाहिए कि वह यत्नपूर्वक विद्या, धन, यश और धर्म का उपार्जन करे तथा व्यसन (द्यूत-क्रीड़ा आदि), कुसंग, मिथ्याभाषण एवं परद्रोह का परित्याग करे।

उसे सबसे पहले ज्ञानलाभ के लिए चेष्टा करनी चाहिए। फिर उसे धनोपार्जन के लिए भी यत्न करना चाहिए। यही उसका कर्तव्य है, और यदि वह अपने इस कर्तव्य को नहीं करता, तो उसकी गणना मनुष्यों में नहीं। जो गृहस्थ धनोपार्जन की चेष्टा नहीं करता, वह दुर्नीतिपरायण है। यदि यह आलस्यभाव से जीवन यापन करता है और उसीमें सन्तुष्ट रहता है, तो वह असत्-प्रकृतिवाला है; क्योंकि उसके ऊपर अनेकों व्यक्ति निर्भर रहते हैं। यदि वह यथेष्ट धन उपार्जन करता है, तो उससे सैकड़ों का पालन पोषण होता है।

यदि तुम्हारे इस शहर में सैकड़ों लोगों ने धनी बनने की चेष्टा न की होती, तो यह सभ्यता, ये अनाथाश्रम और ये हवेलियाँ कहाँ से आतीं ?

ऐसी दशा में धनोपार्जन करना कोई अन्याय नहीं है, क्योंकि यह धन वितरण के लिए ही होता है। गृहस्थ ही समाज-जीवन का केन्द्र है। उसके लिए धन कमाना तथा उसका सत्कर्मों में व्यय करना ही उपासना है। जिस प्रकार एक संन्यासी को अपनी कुटी में बैठकर की हुई उपासना उसके मुक्ति-लाभ में सहायक होती है, उसी प्रकार एक गृहस्थ की भी सदुपाय तथा सदुद्देश्य से धनी होने की चेष्टा उसके मुक्ति-लाभ में सहायक होती है; क्योंकि इन दोनों में ही हम, ईश्वर तथा जो कुछ ईश्वर का है, उस सबके प्रति भक्ति से उत्पन्न हुए आत्मसमर्पण एवं आत्मत्याग का ही प्रकाश पाते हैं; भेद है केवल प्रकाश के रूप भर में।

उसे सभी प्रकार यश अर्जन की चेष्टा करनी चाहिए। जुआ खेलना, दुष्ट

व्यक्तियों का संग, असत्य भाषण तथा दूसरों को कष्ट पहुँचाना—उसे कभी नहीं करना चाहिए।

बहुधा देखा जाता है कि लोग ऐसे कार्यों में प्रवृत्त हो जाते हैं, जो उनकी शक्ति के बाहर होते हैं। इसका फल यही होता है कि उन्हें फिर अपनी उद्देश्य-सिद्धि के लिए दूसरों को धोखा देना पड़ता है। फिर सभी बातों में इस 'समय' की ओर विशेष दृष्टि रखनी चाहिए। एक समय जिसमें असफलता हुई है, सम्भव है, उसीमें दूसरे समय पूरी सफलता प्राप्त हो जाय।

सत्यं मृदु प्रियं धीरो वाक्यं हितकरं वदेत् ।
आत्मोत्कर्षं तथा निन्दां परेषां परिवर्जयेत् ॥८।६२॥

धीर गृहस्थ को सत्य, मृदु, प्रिय तथा हितकर वचन बोलने चाहिए। वह अपने उत्कर्ष की चर्चा न करे और दूसरों की निन्दा करना छोड़ दे।

जलाशयाश्च वृक्षाश्च विश्रामगृहमध्वनि ।
सेतुः प्रतिष्ठितो येन तेन लोकत्रयं जितम् ॥८।६३॥

जो व्यक्ति सब लोगों की सुविधा के लिए जलाशय खुदवाता है, सड़कों पर वृक्ष लगाता है, धर्मशालाएँ तथा सेतु-निर्माण करता है, वह बड़े बड़े योगियों को जो पद प्राप्त होता है, उसीकी ओर अग्रसर होता रहता है।

यह कर्मयोग का एक अंग है—क्रियाशीलता, गृहस्थ का कर्तव्य। आगे चलकर उक्त तंत्र-ग्रंथ में एक और श्लोक आया है :

न बिभेति रणाद् यो वै संग्रामेऽप्यपराङ्मुखः ।
धर्मयुद्धे मृतो वापि तेन लोकत्रयं जितम् ॥८।६७॥

जो मनुष्य युद्ध में नहीं डरता, पीठ नहीं दिखाता और जो धर्मयुद्ध में मृत्यु को प्राप्त होता है, वह तीनों लोकों को जीत लेता है।

यदि स्वदेश अथवा स्वधर्म के लिए युद्ध करते करते मनुष्य की मृत्यु हो जाय, तो योगीजन जिस पद को ध्यान द्वारा पाते हैं, वही पद उस मनुष्य को भी मिलता है। इससे यह स्पष्ट है कि जो एक मनुष्य का कर्तव्य है, वह दूसरे मनुष्य का कर्तव्य नहीं भी हो सकता; परन्तु साथ ही, शास्त्र किसी के भी कर्तव्य को हीन अथवा उन्नत नहीं कहते। हर कर्तव्य का एक अपना स्थान होता है, और हम जिस अवस्था में हों, उसीके अनुरूप कर्तव्य हमें करना चाहिए।

इस सबसे हमें एक भाव यह मिलता है कि दुर्बलता मात्र हेय है। हमारे दर्शन, धर्म अथवा कर्म के अंतर्गत यह भाव मुझे पसन्द है। यदि तुम वेदों को

पढ़ो, तो देखोगे कि उसमें 'नाभगेत्' 'अभी:' अर्थात् किसीसे भी डरना नहीं चाहिए—यह बात बार बार दुहरायी गयी है। भय दुर्बलता का चिह्न है। इसलिए संसार के उपहास अथवा व्यंग की ओर तनिक भी ध्यान न देकर मनुष्य को अपना कर्तव्य करते रहना चाहिए।

यदि कोई मनुष्य ईश्वरोपासना के निमित्त संसार से विरक्त हो जाय, तो उसे यह नहीं समझना चाहिए कि जो लोग संसार में रहकर संसार के हित के लिए कार्य करते हैं, वे ईश्वर की उपासना नहीं करते; और न अपने स्त्री-बच्चों के लिए संसार में रहनेवाले गृहस्थों को ही यह सोचना चाहिए कि जिन लोगों ने संसार का त्याग कर दिया है, वे आलसी और निकम्मे हैं। अपने अपने स्थान में सभी बड़े हैं। इस बात को मैं एक दृष्टान्त द्वारा स्पष्ट करूँगा।

एक राजा अपने राज्य में जब कभी कोई संन्यासी आते, तो उनसे सदैव एक प्रश्न पूछा करता था—"संसार का त्याग कर जो संन्यास ग्रहण करता है, वह श्रेष्ठ है, अथवा संसार में रहकर जो गृहस्थ के समस्त कर्तव्यों को करता जाता है, वह श्रेष्ठ है?" अनेक विद्वान् लोगों ने उसके इस प्रश्न का उत्तर देने का प्रयत्न किया। कुछ लोगों ने कहा कि संन्यासी श्रेष्ठ है। यह सुनकर राजा ने उनसे वह बात सिद्ध करने को कहा। जब वे सिद्ध न कर सके, तो राजा ने उन्हें विवाह करके गृहस्थ हो जाने की आज्ञा दी। कुछ और लोग आये और उन्होंने कहा, "स्वधर्मपरायण गृहस्थ ही श्रेष्ठ है।" राजा ने उनसे भी उनकी बात के लिए प्रमाण मांगा। पर वे जब प्रमाण न दे सके, तो राजा ने उन्हें भी गृहस्थ हो जाने की आज्ञा दी।

अन्त में एक तरुण संन्यासी आये। राजा ने उनसे भी उसी प्रकार प्रश्न किया। संन्यासी ने कहा, "हे राजन्, अपने अपने स्थान में दोनों ही श्रेष्ठ है, कोई भी कम नहीं है।" राजा ने उसका प्रमाण माँगा। संन्यासी ने उत्तर दिया, "हाँ, मैं इसे सिद्ध कर दूंगा, परन्तु आपको मेरे साथ आना होगा और कुछ दिन मेरे ही समान जीवन व्यतीत करना होगा। तभी मैं आपको अपनी बात का प्रमाण दे सकूंगा।" राजा ने संन्यासी की बात स्वीकार कर ली और वह उनके पीछे पीछे जाने लगा। वह उन संन्यासी के साथ अपनी राज्य की सीमा को पार कर अनेक देशों में से होता हुआ एक बड़े राज्य में आ पहुँचा। उस राज्य की राजधानी में एक बड़ा उत्सव मनाया जा रहा था। राजा और संन्यासी ने संगीत और नगाड़ों के शब्द सुने तथा ढोंडी पीटनेवालों की आवाज़ भी। लोग सड़कों पर सुसज्जित होकर कतारों में खड़े थे। उसी समय कोई एक विशेष घोषणा की जा रही थी। उपर्युक्त राजा तथा संन्यासी भी यह सब देखने के लिए खड़े हो गये। घोषणा करनेवाले ने चिल्लाकर कहा, "इस देश की राजकुमारी का स्वयंवर होनेवाला है।"

राजकुमारियों का अपने लिए इस प्रकार पति चुनना भारत में एक पुरानी प्रथा थी। अपने भावी पति के सम्बन्ध में प्रत्येक राजकुमारी के अलग अलग विचार होते थे। कोई अत्यन्त रूपवान पति चाहती थी, कोई अत्यन्त विद्वान्, कोई अत्यन्त धनवान, आदि आदि। अड़ोस-पड़ोस के राज्यों के राजकुमार सुन्दर से सुन्दर ढंग से अपने को सजाकर राजकुमारी के सम्मुख उपस्थित होते थे। कभी कभी उन राजकुमारों के भी भाट होते थे, जो उनके गुणों का गान करते तथा यह दर्शाते थे कि उन्हींका वरण किया जाय। राजकुमारी को एक सजे हुए सिंहासन पर बिठाकर आलीशान ढंग से सभा के चारों ओर ले जाया जाता था। वह उन सबके सामने जाती तथा उनका गुणगान सुनती। यदि उसे कोई राजकुमार नापसन्द होता, तो वह अपने वाहकों से कहती, "आगे बढ़ो", और उसके पश्चात् उस नापसन्द राजकुमार का कोई ख्याल तक न किया जाता था। यदि राजकुमारी किसी राजकुमार से प्रसन्न हो जाती, तो वह उसके गले में वरमाला डाल देती और वह राजकुमार उसका पति हो जाता था।

जिस देश में यह राजा और संन्यासी आये हुए थे, उस देश में इसी प्रकार का एक स्वयंवर हो रहा था। यह राजकुमारी संसार में अद्वितीय सुन्दरी थी और उसका भावी पति ही उसके पिता के बाद उसके राज्य का उत्तराधिकारी होनेवाला था। इस राजकुमारी का विचार एक अत्यन्त सुन्दर पुरुष से विवाह करने का था, परन्तु उसे योग्य व्यक्ति मिलता ही न था। कई बार उसके लिए स्वयंवर रचे गये, पर राजकुमारी को अपने मन का पति न मिला। इस बार का स्वयंवर सबसे भव्य था; अन्य सभी अवसरों की अपेक्षा इस बार अधिक लोग आये थे। राजकुमारी रत्नजटित सिंहासन पर बैठकर आयी और उसके वाहक उसे एक राजकुमार के सामने से दूसरे के सामने ले गये। परन्तु उसने किसीकी ओर देखा तक नहीं। सभी लोग निराश हो गये और सोचने लगे कि क्या अन्य अवसरों की भाँति इस बार का स्वयंवर भी असफल ही रहेगा। इतने ही में वहाँ एक दूसरा तरुण संन्यासी आ पहुँचा। वह इतना सुन्दर था कि मानो सूर्यदेव ही आकाश छोड़कर स्वयं पृथ्वी पर उतर आये हों। वह आकर सभा के एक ओर खड़ा हो गया और जो कुछ हो रहा था, उसे देखने लगा। राजकुमारी का सिंहासन उसके समीप आया, और ज्यों ही उसने उस सुन्दर संन्यासी को देखा, त्यों ही वह रुक गयी और उसके गले में वरमाला डाल दी। तरुण संन्यासी ने एकदम माला को रोक लिया और यह कहते हुए 'छि:, छि:, यह क्या है ?' उसे फेंक दिया। उसने कहा, "मैं संन्यासी हूँ, मुझे विवाह से क्या प्रयोजन ?" उस देश के राजा ने सोचा कि शायद निर्धन होने के कारण यह राजकुमारी से विवाह करने का साहस नहीं

कर रहा है। अतएव उसने उससे कहा, "देखो, मेरी कन्या के साथ तुम्हें मेरा आधा राज्य अभी मिल जायगा, और सम्पूर्ण राज्य मेरी मृत्यु के बाद !" और यह कहकर उसने संन्यासी के गले में फिर माला डाल दी। उस युवा संन्यासी ने माला फिर निकालकर फेंक दी और कहा, "छिः, यह सब क्या झंझट है, मुझे विवाह से क्या मतलब ?" और यह कहकर वह तुरन्त सभा छोड़कर चला गया।

इधर राजकुमारी इस युवा पर इतनी मोहित हो गयी कि उसने कह दिया, "मैं इसी मनुष्य से विवाह करूँगी, नहीं तो प्राण त्याग दूँगी।" और राजकुमारी संन्यासी के पीछे पीछे उसे लौटा लाने के लिए चल पड़ी। इसी अवसर पर हमारे पहले संन्यासी ने, जो राजा को यहाँ लाये थे, राजा से कहा, "राजन्, चलिए, इन दोनों के पीछे पीछे हम लोग भी चलें।" निदान, वे उनके पीछे पीछे पर्याप्त अन्तर रखते हुए चलने लगे। वह युवा संन्यासी, जिसने राजकुमारी से विवाह करने से इनकार कर दिया था, कई मील निकल गया और अन्त में एक जंगल में घुस गया। उसके पीछे राजकुमारी थी, और उन दोनों के पीछे ये दोनों। तरुण संन्यासी उस बन से भली भाँति परिचित था तथा वहाँ के सारे जटिल रास्तों का उसे ज्ञान था। वह एकदम एक रास्ते में घुस गया और अदृश्य हो गया। राजकुमारी उसे फिर देख न सकी। उसे काफ़ी देर ढूँढ़ने के बाद अन्त में वह एक वृक्ष के नीचे बैठ गयी और रोने लगी, क्योंकि उसे बाहर निकलने का मार्ग नहीं मालूम था। इतने में यह राजा और संन्यासी उसके पास आये और उससे कहा, "रोओ मत, तुम्हें इस जंगल के बाहर निकाल ले चलेंगे, परन्तु अब बहुत अँधेरा हो गया है, जिससे रास्ता ढूँढ़ना सहज नहीं। यहीं एक बड़ा पेड़ है, आओ, इसीके नीचे हम सब विश्राम करें और सबेरा होते ही हम तुम्हें मार्ग बता देंगे।"

अब, उस पेड़ की एक डाली पर एक छोटी चिड़िया, उसकी पत्नी तथा उसके तीन बच्चे रहते थे। उस चिड़िया ने पेड़ के नीचे इन लोगों को देखा और अपनी पत्नी से कहा, "देखो, हमारे यहाँ ये लोग अतिथि हैं, जाड़े का मौसम है, हम लोग क्या करें ? हमारे पास आग तो है नहीं।" यह कहकर वह उड़ गया और एक जलती हुई लकड़ी का टुकड़ा अपनी चोंच में दबा लाया और उसे अतिथियों के सामने गिरा दिया। उन्होंने उसमें लकड़ी लगा लगाकर खूब आग तैयार कर ली; परन्तु चिड़िया को फिर भी सन्तोष न हुआ। उसने अपनी स्त्री से फिर कहा, "बताओ, अब हमें क्या करना चाहिए ? ये लोग भूखे हैं, और इन्हें खिलाने के लिए हमारे पास कुछ भी नहीं है। हम लोग गृहस्थ हैं और हमारा धर्म है कि जो कोई हमारे घर आये, उसे हम भोजन करायें। जो कुछ मेरी शक्ति में है, मुझे अवश्य करना चाहिए; मैं उन्हें अपना यह शरीर ही दे दूँगा।" ऐसा कहकर वह

आग में कूद पड़ा और भुन गया। अतिथियों ने उसे आग में गिरते देखा, उसे बचाने का यत्न भी किया, परन्तु बचा न सके। उस चिड़िया की स्त्री ने अपने पति का सुकृत्य देखा और अपने मन में कहा, "ये तो तीन लोग हैं, उनके भोजन के लिए केवल एक ही चिड़िया पर्याप्त नहीं। पत्नी के रूप में मेरा यह कर्तव्य है कि अपने पति के परिश्रमों को मैं व्यर्थ न जाने दूँ। वे मेरा भी शरीर ले लें।" और ऐसा कहकर वह भी आग में गिर गयी और भुन गयी।

इसके बाद जब उन तीन छोटे बच्चों ने देखा कि उन अतिथियों के लिए इतना तो पर्याप्त न होगा, तो उन्होंने आपस में कहा, "हमारे माता-पिता से जो कुछ बन पड़ा, उन्होंने किया, परन्तु फिर भी उतना पूरा न पड़ेगा। अब हमारा धर्म है कि हम उनके कार्य को पूरा करें—हमें भी अपने शरीर दे देने चाहिए।" और यह कहकर वे सब आग में कूद पड़े।

यह सब देखकर ये तीनों लोग बहुत चकित हुए। इन चिड़ियों को वे खा ही कैसे सकते थे। रात को बिना वे भोजन किये ही रहे। प्रातःकाल राजा तथा संन्यासी ने राजकुमारी को जंगल का मार्ग दिखला दिया, और वह अपने पिता के घर वापस चली गयी।

तब संन्यासी ने राजा से कहा, "देखिए राजन्, आपको अब ज्ञात हो गया कि हरेक अपने क्षेत्र में महान् है। यदि आप संसार में रहना चाहते हैं, तो इन चिड़ियों के समान रहिए, दूसरों के लिए अपना जीवन दे देने को सदैव तत्पर रहिए। और यदि आप संसार छोड़ना चाहते हैं, तो उस युवा संन्यासी के समान होइए, जिसके लिए वह परम सुन्दरी स्त्री और एक राज्य भी तृणवत् था। यदि गृहस्थ होना चाहते हैं, तो दूसरों के हित के लिए अपना जीवन अर्पित कर देने के लिए तैयार रहिए। और यदि आपको संन्यास-जीवन की इच्छा है, तो सौन्दर्य, धन तथा अधिकार की ओर आँख तक न उठाइए। हरेक अपने क्षेत्र में महान् है, परन्तु एक का कर्तव्य दूसरे का कर्तव्य नहीं हो सकता।"

कर्म का रहस्य

दूसरों की शारीरिक आवश्यकताओं का निवारण करके उनकी भौतिक सहायता करना महान् कर्म अवश्य है, परन्तु अभाव की मात्रा जितनी अधिक रहती है तथा सहायता जितनी दूर तक अपना असर कर सकती है, उसी मात्रा में वह उच्चतर होती है। यदि एक मनुष्य के अभाव एक घंटे के लिए हटाये जा सकें, तो यह उसकी सहायता अवश्य है, और यदि एक साल के लिए हटाये जा सकें, तो यह उससे भी अधिक सहायता है; पर यदि उसके अभाव सदा के लिए दूर कर दिये जायँ, तो सचमुच वह उसके लिए सबसे अधिक सहायता होगी। केवल आध्यात्मिक ज्ञान ही ऐसा है, जो हमारे दुःखों को सदा के लिए नष्ट कर दे सकता है; अन्य किसी प्रकार के ज्ञान से आवश्यकताओं की पूर्ति केवल अल्प समय के लिए ही होती है। केवल आध्यात्मिक ज्ञान द्वारा ही हमारी दैन्य-क्लेशों का सदा के लिए अन्त हो सकता है। अतएव किसी मनुष्य की आध्यात्मिक सहायता करना ही उसकी सबसे बड़ी सहायता करना है। जो मनुष्य को पारमार्थिक ज्ञान दे सकता है, वही मानव समाज का सबसे बड़ा हितैषी है। हम देखते भी हैं कि जिन व्यक्तियों ने मनुष्य की आध्यात्मिक सहायता की है, वे ही वास्तव में सबसे अधिक शक्तिसम्पन्न थे। कारण यह है कि आध्यात्मिकता ही हमारे जीवन के समस्त कृत्यों का सच्चा आधार है। आध्यात्मिक शक्तिसम्पन्न पुरुष यदि चाहे तो, हर विषय में सक्षम हो सकता है। और जब तक मनुष्य में आध्यात्मिक बल नहीं आता, तब तक उसकी भौतिक आवश्यकताएँ भी भली भाँति तृप्त नहीं हो सकतीं। आध्यात्मिक सहायता से नीचे है—बौद्धिक सहायता। यह ज्ञान-दान भोजन तथा वस्त्र के दान से कहीं श्रेष्ठ है; इतना ही नहीं, वरन् प्राणदान से भी उच्च है, क्योंकि ज्ञान ही मनुष्य का प्रकृत जीवन है। अज्ञान ही मृत्यु है, और ज्ञान जीवन। यदि जीवन अन्धकारमय है और अज्ञान तथा क्लेश में बीतता है, तो, ऐसे जीवन का मूल्य बहुत ही कम है। ज्ञान-दान से नीचे है शारीरिक सहायता। अतएव दूसरों की सहायता का प्रश्न उपस्थित होनेपर हमें इस भ्रांत धारणा से सदा बचे रहने का प्रयत्न करना चाहिए कि शारीरिक सहायता ही एकमात्र सहायता है। वास्तव में शारीरिक सहायता तो सब सहायताओं में केवल अन्तिम ही नहीं, वरन निम्नतम श्रेणी की भी है, क्योंकि इसके द्वारा चिर

तृप्ति नहीं हो सकती। भूखे रहने से जो कष्ट होता है, उसका परिहार भोजन कर लेने से ही हो जाता है, परन्तु वह भूख पुनः लौट आती है। हमारे क्लेशों का अन्त तो केवल तभी हो सकता है, जब हम तृप्त होकर सब प्रकार के अभावों से परे हो जायँ। तब क्षुधा हमें पीड़ित नहीं कर सकती और न कोई क्लेश अथवा दुःख ही हमें विचलित कर सकता है। अतएव, जो सहायता हमें आध्यात्मिक बल देती है, वह सर्व श्रेष्ठ है; उससे नीचे है बौद्धिक सहायता; और उसके बाद है शारीरिक सहायता।

केवल शारीरिक सहायता द्वारा ही संसार के दुःखों से छुटकारा नहीं हो सकता। जब तक मनुष्य का स्वभाव ही परिवर्तित नहीं हो जाता, तब तक ये शारीरिक आवश्यकताएं सदा बनी ही रहेंगी और फलस्वरूप क्लेशों का अनुभव भी सदैव होता रहेगा। कितनी भी शारीरिक सहायता उनका पूर्ण उपचार नहीं कर सकती। इस समस्या का केवल एक ही समाधान है और वह है मानव जाति को पवित्र कर देना। अपने चारों ओर हम जो अशुभ तथा क्लेश देखते हैं, उन सबका केवल एक ही मूल कारण है—अज्ञान। मनुष्य को ज्ञानालोक दो, उसे पवित्र और आध्यात्मिक बलसम्पन्न करो और शिक्षित बनाओ, तभी संसार से दुःख का अन्त हो जायगा, अन्यथा नहीं। देश के प्रत्येक घर को हम सदावर्त में भले ही परिणत कर दें, देश को अस्पतालों से भले ही भर दें, परन्तु जब तक मनुष्य का चरित्र परिवर्तित नहीं होता, तब तक दुःख-क्लेश बना ही रहेगा।

भगवद्गीता में हम बार बार पढ़ते हैं कि हमें निरन्तर कर्म करते रहना चाहिए। कर्म स्वभावतः ही शुभ-अशुभ से निर्मित होता है। हम ऐसा कोई भी कर्म नहीं कर सकते, जिससे कहीं कुछ शुभ न हो; और ऐसा भी कोई कर्म नहीं है, जिससे कहीं न कहीं कुछ अशुभ न हो। प्रत्येक कर्म अनिवार्य रूप से गुणदोष से मिश्रित रहता है। परन्तु फिर भी हमें सतत कर्म करते रहने का ही आदेश है। शुभ और अशुभ, दोनों के अपने अलग अलग परिणाम होंगे, वे भी कर्म की उत्पत्ति करेंगे। शुभ कर्मों का फल शुभ होगा और अशुभ कर्मों का फल अशुभ। परन्तु शुभ और अशुभ, दोनों ही आत्मा के लिए बन्धनस्वरूप हैं। इस सम्बन्ध में गीता का कथन है कि यदि हम अपने कर्मों में आसक्त न हों, तो हमारी आत्मा पर किसी प्रकार का बन्धन नहीं पड़ सकता। अब हम यह देखेंगे कि 'कर्मों में अनासक्ति' का तात्पर्य क्या है।

गीता का केन्द्रीय भाव यह है: निरन्तर कर्म करते रहो, परन्तु उसमें आसक्त मत होओ। संस्कार प्रायः मनुष्य की जन्मजात-प्रवृत्ति होता है। यदि मन को तालाब मान लिया जाय, तो उसमें उठनेवाली प्रत्येक लहर, प्रत्येक तरंग जब शान्त हो

जाती है, तो वास्तव में वह बिल्कुल नष्ट नहीं हो जाती, वरन् चित्त में एक प्रकार का चिह्न छोड़ जाती है तथा ऐसी सम्भावना का निर्माण कर जाती है, जिससे वह फिर उठ सके। इस चिह्न तथा इस लहर के फिर से उठने की सम्भावना को मिलाकर हम 'संस्कार' कह सकते हैं। हमारा प्रत्येक कार्य, हमारा प्रत्येक अंग-संचालन, हमारा प्रत्येक विचार हमारे चित्त पर इसी प्रकार का एक संस्कार छोड़ जाता है; और यद्यपि ये संस्कार ऊपरी दृष्टि से स्पष्ट न हों, तथापि ये अवचेतन रूप से अन्दर ही अन्दर कार्य करने में पर्याप्त समर्थ होते हैं। हम प्रतिमुहूर्त जो कुछ होते हैं, वह इन संस्कारों के समुदाय द्वारा ही नियमित होता है। मैं इस मुहूर्त जो कुछ हूँ, वह मेरे अतीत जीवन के समस्त संस्कारों का प्रभाव है। यथार्थतः इसे ही 'चरित्र' कहते हैं, और प्रत्येक मनुष्य का चरित्र इन संस्कारों की समष्टि द्वारा ही नियमित होता है। यदि शुभ संस्कारों का प्राबल्य रहे, तो मनुष्य का चरित्र अच्छा होता है, और यदि अशुभ संस्कारों का, तो बुरा। यदि एक मनुष्य निरन्तर बुरे शब्द सुनता रहे, बुरे विचार सोचता रहे, बुरे कर्म करता रहे, तो उसका मन भी बुरे संस्कारों से पूर्ण हो जायगा और बिना उसके जाने ही वे संस्कार उसके समस्त विचारों तथा कार्यों पर अपना प्रभाव डालते रहेंगे। वास्तव में ये बुरे संस्कार निरन्तर अपना कार्य करते रहते हैं। अतएव बुरे संस्कार-सम्पन्न होने के कारण उस व्यक्ति के कार्य भी बुरे होंगे—वह एक बुरा आदमी बन जायगा,—वह इससे बच नहीं सकता। इन संस्कारों की समष्टि उसमें दुष्कर्म करने की प्रबल प्रवृत्ति उत्पन्न कर देगी। वह इन संस्कारों के हाथ एक यंत्र सा होकर रह जायगा, वे उसे बलपूर्वक दुष्कर्म करने के लिए बाध्य करेंगे। इसी प्रकार यदि एक मनुष्य अच्छे विचार रखे और सत्कार्य करे, तो उसके इन संस्कारों का प्रभाव भी अच्छा ही होगा तथा उसकी इच्छा न होते हुए भी वे उसे सत्कार्य करने के लिए प्रवृत्त करेंगे। जब मनुष्य इतने सत्कार्य एवं सत्‌चिन्तन कर चुकता है कि उसकी इच्छा न होते हुए भी उसमें सत्कार्य करने की एक अनिवार्य प्रवृत्ति उत्पन्न हो जाती है, तब फिर यदि वह दुष्कर्म करना भी चाहे, तो इन सब संस्कारों की समष्टि रूप से उसका मन उसे ऐसा करने से तुरन्त रोक देगा; इतना ही नहीं, वरन् उसके ये संस्कार उसे मार्ग पर से हटा देंगे। तब वह अपने सत्संस्कारों के हाथ एक कठपुतली जैसा हो जायगा। जब ऐसी स्थिति हो जाती है, तभी उस मनुष्य का चरित्र स्थिर कहलाता है।

जिस प्रकार कछुआ अपने सिर और पैरों को खोल के अन्दर समेट लेता है, और तब उसे चाहे हम मार ही क्यों न डालें, उसके टुकड़े टुकड़े ही क्यों न कर डालें, पर वह बाहर नहीं निकलता, इसी प्रकार जिस मनुष्य ने अपने मन एवं इन्द्रियों

को वश में कर लिया है, उसका चरित्र भी सदैव स्थिर रहता है। वह अपनी आभ्यन्तरिक शक्तियों को वश में रखता है और उसकी इच्छा के विरुद्ध संसार की कोई भी वस्तु उन्हें बहिर्मुख होने के लिए विवश नहीं कर सकती। मन के ऊपर इस प्रकार सद्विचारों एवं सुसंस्कारों का निरन्तर प्रभाव पड़ते रहने से सत्कार्य करने की प्रवृत्ति प्रबल हो जाती है और इसके फलस्वरूप हम इन्द्रियों (कर्मेन्द्रिय तथा ज्ञानेन्द्रिय, दोनों) को वशीभूत करने में समर्थ होते हैं। तभी हमारा चरित्र स्थिर होता है, तभी हम सत्य-लाभ के अधिकारी हो सकते हैं। ऐसा ही मनुष्य सदैव निरापद रहता है, उससे किसी भी प्रकार की बुराई नहीं हो सकती। उसको तुम कैसे भी लोगों के साथ रख दो, उसके लिए कोई खतरा नहीं रहता। इन शुभ संस्कारों से सम्पन्न होने की अपेक्षा एक और भी अधिक उन्नततर अवस्था है और वह है—मुक्ति-लाभ की इच्छा। तुम्हें यह स्मरण रखना चाहिए कि सभी योगों का ध्येय आत्मा की मुक्ति है, और प्रत्येक योग समान रूप से उसी ध्येय की ओर ले जाता है। बुद्ध ने ध्यान से तथा ईसा ने प्रार्थना द्वारा जिस अवस्था की प्राप्ति की थी, मनुष्य केवल कर्म द्वारा भी उस अवस्था को प्राप्त कर सकता है। बुद्ध ज्ञानी थे और ईसा भक्त, पर वे दोनों एक ही लक्ष्य पर पहुँचे थे। यहाँ कठिनाई है। मुक्ति का अर्थ है, सम्पूर्ण स्वाधीनता—शुभ और अशुभ, दोनों प्रकार के बन्धनों से छुटकारा पा जाना। इसे समझना ज़रा कठिन है। लोहे की जंजीर भी एक जंजीर है, और सोने की जंजीर भी एक जंजीर ही है। यदि हमारी अँगुली में एक काँटा चुभ जाय, तो उसे निकालने के लिए हम एक दूसरा काँटा काम में लाते हैं, परन्तु जब वह निकल जाता है, तो हम दोनों को ही फेंक देते हैं। हमें फिर दूसरे काँटे को रखने की कोई आवश्यकता नहीं रह जाती, क्योंकि दोनों आखिर काँटे ही तो हैं। इसी प्रकार कुसंस्कारों का नाश शुभ संस्कारों द्वारा करना चाहिए और मन के अशुभ विचारों को शुभ विचारों द्वारा दूर करते रहना चाहिए, जब तक कि समस्त अशुभ विचार लगभग नष्ट न हो जायँ अथवा पराजित न हो जायँ या वशीभूत होकर मन में कहीं एक कोने में न पड़े रह जायँ। परन्तु उसके उपरान्त शुभ संस्कारों पर भी विजय प्राप्त करना आवश्यक है। तभी जो 'आसक्त' था, वह 'अनासक्त' हो जाता है। कर्म करो, अवश्य करो, पर उस कर्म अथवा विचार को अपने मन के ऊपर कोई गहरा प्रभाव न डालने दो। लहरें आयें और जायँ, मांसपेशियों और मस्तिष्क से बड़े बड़े कार्य होते रहें, पर वे आत्मा पर किसी प्रकार का गहरा प्रभाव न डालने पायें।

अब प्रश्न यह है कि यह कैसे हो सकता है ? हम देखते हैं कि हम जिस किसी कर्म में लिप्त हो जाते हैं, उसका संस्कार हमारे मन में रह जाता है। दिन

भर में मैं सैकड़ों आदमियों से मिला, और उन्हींमें एक ऐसे व्यक्ति से भी मिला, जिससे मुझे प्रेम है। तब यदि रात को सोते समय मैं उन सब लोगों को स्मरण करने का प्रयत्न करूँ, तो देखूँगा कि मेरे सम्मुख केवल उसी व्यक्ति का चेहरा आता है, जिसे मैं प्रेम करता हूँ, भले ही उसे मैंने केवल एक ही मिनट के लिए देखा हो। उसके अतिरिक्त अन्य सब व्यक्ति अन्तर्हित हो जाते हैं। ऐसा क्यों? इसलिए कि इस व्यक्ति के प्रति मेरी विशेष आसक्ति ने मेरे मन पर अन्य सभी की अपेक्षा एक अधिक गहरा प्रभाव डाल दिया था। शरीर-विज्ञान की दृष्टि से तो सभी व्यक्तियों का प्रभाव एक सा ही हुआ था। प्रत्येक व्यक्ति का चेहरा नेत्रपट पर उतर आया था और मस्तिष्क में उसके चित्र भी बन गये थे। परन्तु फिर भी मन पर इन सबका प्रभाव एक समान नहीं पड़ा। सम्भवतः अधिकांश व्यक्तियों के चेहरे एकदम नये थे, जिनके बारे में मैंने पहले कभी विचार भी न किया होगा; परन्तु वह एक चेहरा, जिसकी मुझे केवल एक झलक ही मिली थी, भीतर तक समा गया! शायद इस चेहरे का चित्र मेरे मन में वर्षों से रहा हो और मैं उसके बारे में सैकड़ों बातें जानता होऊँ; अतः उसकी इस एक झलक ने ही मेरे मन में उन सैकड़ों सोती हुई स्मृतियों को जगा दिया। और इसीलिए शेष अन्य सब चेहरों को देखने के समवेत फलस्वरूप मन में जितना संस्कार पड़ा, उसकी अपेक्षा सैकड़ों गुना अधिक इस संस्कार की आवृत्ति होते रहने के कारण मन पर उसका इतना प्रबल प्रभाव पड़ा।

अतएव अनासक्त होओ; कार्य होते रहने दो—मस्तिष्क के केन्द्र अपना अपना कार्य करते रहें; निरन्तर कार्य करते रहो, परन्तु एक लहर को भी अपने मन पर प्रभाव मत डालने दो। संसार में इस प्रकार कर्म करो, मानो तुम एक विदेशी पथिक हो, पर्यटक हो। कर्म तो निरन्तर करते रहो, परन्तु अपने को बन्धन में मत डालो; बन्धन भीषण है। संसार हमारी निवासभूमि नहीं है; यह तो उन सोपानों में से एक है, जिनमें से होकर हम जा रहे हैं। सांख्य दर्शन के उस महावाक्य को मत भूलो, 'समस्त प्रकृति आत्मा के लिए है, आत्मा प्रकृति के लिए नहीं।' प्रकृति के अस्तित्व का प्रयोजन आत्मा की शिक्षा के निमित्त ही है, इसका और कोई अर्थ नहीं। उसका अस्तित्व इसीलिए है कि आत्मा को ज्ञान-लाभ हो तथा ज्ञान द्वारा आत्मा अपने को मुक्त कर ले। यदि हम यह बात निरन्तर ध्यान में रखें, तो हम प्रकृति में कभी आसक्त न होंगे; हमें यह ज्ञान हो जायगा कि प्रकृति हमारे लिए एक पुस्तक सदृश है, जिसका हमें अध्ययन करना है; और जब हमें उससे आवश्यक ज्ञान प्राप्त हो जायगा, तो फिर वह पुस्तक हमारे लिए किसी काम की नहीं रहेगी। परन्तु इसके विपरीत हो यह रहा

है कि हम अपने को प्रकृति में ही मिला दे रहे हैं; यह सोच रहे हैं कि आत्मा प्रकृति के लिए है, आत्मा शरीर के लिए है; और जैसी कि एक कहावत है, हम सोचते हैं, 'मनुष्य खाने के लिए ही जीवित रहता है, न कि जीवित रहने के लिए खाता है'; और यह भूल हम निरन्तर करते रहते हैं। प्रकृति को ही 'अहम्' मानकर हम प्रकृति में आसक्त बने रहते हैं। और ज्यों ही इस आसक्ति का प्रादुर्भाव होता है, त्यों ही आत्मा पर प्रबल संस्कार का निर्माण हो जाता है, जो हमें बन्धन में डाल देता है और जिसके कारण हम मुक्त भाव से कार्य न करके दास की तरह कार्य करते रहते हैं।

इस शिक्षा का समस्त सार यही है कि तुम्हें एक 'स्वामी' के समान कार्य करना चाहिए, न कि एक 'दास' की तरह। कर्म तो निरन्तर करते रहो, परन्तु एक दास के समान मत करो। सब लोग किस प्रकार कर्म कर रहे हैं, क्या यह तुम नहीं देखते? इच्छा होने पर भी कोई आराम नहीं ले सकता! ९९ प्रतिशत लोग तो दासों की तरह कार्य करते रहते हैं, और उसका फल होता है दुःख; ये सब कार्य स्वार्थपूर्ण होते हैं। मुक्त भाव से कर्म करो! प्रेमसहित कर्म करो! 'प्रेम' शब्द का यथार्थ अर्थ समझना बहुत कठिन है। बिना स्वाधीनता के प्रेम आ ही नहीं सकता। दास में सच्चा प्रेम होना सम्भव नहीं। यदि तुम एक गुलाम मोल ले लो और उसे जंजीरों से बाँधकर उससे अपने लिए काम कराओ, तो वह कष्ट उठाकर किसी प्रकार काम करेगा अवश्य, पर उसमें किसी प्रकार का प्रेम नहीं रहेगा। इसी तरह जब हम संसार के लिए दासवत् कर्म करते हैं, तो उसके प्रति हमारा प्रेम नहीं रहता और इसलिए वह सच्चा कर्म नहीं हो सकता। हम अपने बन्धु-बान्धवों के लिए जो कर्म करते हैं, यहाँ तक कि हम अपने स्वयं के लिए भी जो कर्म करते हैं, उसके बारे में भी ठीक यही बात है। स्वार्थ के लिए किया गया कार्य दास का कार्य है। और कोई कार्य स्वार्थ के लिए है अथवा नहीं, इसकी पहचान यह है कि प्रेम के साथ किया हुआ प्रत्येक कार्य आनन्ददायक होता है। सच्चे प्रेम के साथ किया हुआ कोई भी कार्य ऐसा नहीं है, जिसके फलस्वरूप शान्ति और आनन्द न प्राप्त हो। यथार्थ सत्, यथार्थ ज्ञान और यथार्थ प्रेम—ये तीनों सदा के लिए परस्पर सम्बद्ध हैं। वस्तुतः ये एक ही में तीन हैं। जहाँ एक रहता है, वहाँ शेष दो भी अवश्य रहते हैं। ये उस अद्वितीय सच्चिदानन्द के ही तीन पक्ष हैं। जब वह सत्ता सापेक्ष रूप में प्रतीत होती है, तो हम उसे विश्व के रूप में देखते हैं। वह ज्ञान भी सांसारिक वस्तुविषयक ज्ञान के रूप में परिणत हो जाता है, तथा वह आनन्द मानव-हृदय में विद्यमान समस्त यथार्थ प्रेम की नींव हो जाता है। अतएव सच्चे प्रेम से प्रेमी अथवा उसके प्रेम-पात्र को

कभी कष्ट नहीं पहुँच सकता। उदाहरणार्थ, मान लो, एक पुरुष किसी स्त्री से प्रेम करता है। वह चाहता है कि वह स्त्री केवल उसीके पास रहे; अन्य पुरुषों के प्रति उस स्त्री के प्रत्येक व्यवहार से उसमें ईर्ष्या का उद्रेक होता है। वह चाहता है कि वह स्त्री उसीके पास बैठे, उसीके पास खड़ी रहे तथा उसीकी इच्छानुसार खाये-पिये और चले-फिरे। वह स्वयं उस स्त्री का गुलाम हो गया है, और चाहता है कि वह स्त्री भी उसकी गुलाम होकर रहे। यह तो प्रेम नहीं है। यह तो गुलामी का एक प्रकार का विकृत भाव है, जो ऊपर से प्रेम जैसा दिखायी देता है। यह प्रेम नहीं हो सकता, क्योंकि यह क्लेशदायक है; यदि वह स्त्री उस मनुष्य की इच्छानुसार न चले, तो उससे उस मनुष्य को कष्ट होता है। वास्तव में सच्चे प्रेम की प्रतिक्रिया दुःखप्रद तो होती ही नहीं। उससे तो केवल आनन्द ही होता है। और यदि उससे ऐसा न होता हो, तो समझ लेना चाहिए कि वह प्रेम नहीं है, बल्कि वह और ही कोई चीज है, जिसे हम भ्रमवश प्रेम कहते हैं। जब तुम अपने पति, अपनी स्त्री, अपने बच्चों, यहाँ तक कि समस्त विश्व को इस प्रकार प्रेम करने में सफल हो सको कि उससे किसी भी प्रकार दुःख, ईर्ष्या अथवा स्वार्थपरतारूप कोई प्रतिक्रिया न हो, केवल तभी तुम सम्यक् रूप से अनासक्त होने की अवस्था में पहुँच सकोगे।

कृष्ण अर्जुन से कहते हैं, "हे अर्जुन, यदि मैं कर्म करने से एक क्षण के लिए भी रुक जाऊँ, तो सारा विश्व ही नष्ट हो जाय। मुझे कर्म से किसी भी प्रकार का लाभ नहीं; मैं ही जगत् का एकमात्र प्रभु हूँ—फिर भी मैं कर्म क्यों करता हूँ?—इसलिए कि मुझे संसार से प्रेम है।" ईश्वर अनासक्त है। क्यों?—इसलिए कि वह सच्चा प्रेमी है। उस सच्चे प्रेम से ही हम अनासक्त हो सकते हैं। जहाँ कहीं सांसारिक वस्तुओं के प्रति आसक्ति है, वहाँ जान लेना चाहिए कि वह केवल भौतिक आकर्षण है—केवल कुछ जड़ कणों का दूसरे कुछ जड़ कणों के प्रति आकर्षण हो रहा है—मानो कोई एक चीज दो वस्तुओं को लगातार निकटतर खींचे ला रही है; और यदि वे दोनों वस्तुएँ काफ़ी निकट नहीं आ सकतीं, तो फिर कष्ट उत्पन्न होता है। परन्तु जहाँ 'सच्चा' प्रेम है, वहाँ भौतिक आकर्षण बिल्कुल नहीं रहता। ऐसे प्रेमी चाहे सहस्रों योजन दूरी पर क्यों न रहें, उनका प्रेम सदैव वैसा ही रहता है; वह प्रेम कभी नष्ट नहीं होता, उससे कभी कोई क्लेशदायक प्रतिक्रिया नहीं होती।

इस प्रकार की अनासक्ति प्राप्त करना लगभग सारे जीवन भर का कार्य है। परन्तु इसका लाभ होते ही हमें अपनी प्रेम-साधना का लक्ष्य प्राप्त हो जाता है और हम मुक्त हो जाते हैं। तब हम प्रकृति के बन्धन से छूट जाते हैं और

उसके असली स्वरूप को जान लेते हैं। फिर वह हमें बन्धन में नहीं डाल सकती तब हम बिल्कुल स्वाधीन हो जाते हैं और कर्म के फलाफल की ओर ध्यान ही नहीं देते। फिर कौन परवाह करता है कि कर्मफल क्या होगा?

अपने बच्चों को तुम जो देते हो, तो क्या उसके बदले में उनसे कुछ माँगते हो? यह तो तुम्हारा कर्तव्य है कि तुम उनके लिए काम करो, और बस, वहीं पर बात समाप्त हो जाती है। इसी प्रकार, किसी दूसरे पुरुष, किसी नगर अथवा देश के लिए तुम जो कुछ करो, उसके प्रति भी वैसा ही भाव रखो; उनसे किसी प्रकार के प्रतिदान की आशा न रखो। यदि तुम सदैव ऐसा ही भाव रख सको कि तुम केवल दाता ही हो, जो कुछ तुम देते हो, उससे तुम किसी प्रकार के प्रतिदान की आशा नहीं रखते, तो उस कर्म से तुम्हें किसी प्रकार की आसक्ति नहीं होगी। आसक्ति तभी आती है, जब हम प्रतिदान की आशा रखते हैं।

यदि दासवत् कार्य करने से स्वार्थपरता और आसक्ति उत्पन्न होती है, तो अपने मन का स्वामी बनकर कार्य करने से अनासक्ति से उत्पन्न आनन्द का लाभ होता है। हम बहुधा अधिकार और न्याय की बातें किया करते हैं, परन्तु वे सब केवल बच्चों की बातों के समान हैं। मनुष्य के चरित्र का नियमन करनेवाली दो चीजें होती हैं बल और दया। बल का प्रयोग करना सदैव स्वार्थपरतावश ही होता है। बहुधा सभी स्त्री-पुरुष अपनी शक्ति एवं सुविधा का यथासम्भव उपभोग करने का प्रयत्न करते हैं। दया दैवी सम्पत्ति है। भले बनने के लिए हमें दयायुक्त होना चाहिए; यहाँ तक कि न्याय और अधिकार भी दया पर ही प्रतिष्ठित होने चाहिए। कर्मफल की लालसा तो हमारी आध्यात्मिक उन्नति के मार्ग में बाधक है; इतना ही नहीं, अन्त में उससे क्लेश भी उत्पन्न होता है। दया और निःस्वार्थपरता को कार्यरूप में परिणत करने का एक और उपाय है—और वह है, कर्मों को उपासनारूप मानना, यदि हम सगुण ईश्वर में विश्वास रखते हों। यहाँ हम अपने समस्त कर्मों के फल ईश्वर को ही समर्पित कर देते हैं,—और इस प्रकार उनकी उपासना करते हुए हमें इस बात का कोई अधिकार नहीं रह जाता कि हम अपने किये हुए कर्मों के प्रतिदान में मानव जाति से कुछ अपेक्षा करें। प्रभु स्वयं निरन्तर कार्य करते रहते हैं और वे सारी आसक्ति से परे हैं। जिस प्रकार जल कमल के पत्ते को नहीं भिगो सकता, उसी प्रकार कोई भी कर्म फलासक्ति उत्पन्न करके निःस्वार्थी पुरुष को बन्धन में नहीं डाल सकता। अहं-शून्य और अनासक्त पुरुष किसी जनपूर्ण और पापपूर्ण नगर के बीच ही क्यों न रहे, पर पाप उसे स्पर्श तक न कर सकेगा।

निम्नलिखित कहानी सम्पूर्ण स्वार्थत्याग का एक दृष्टान्त है : कुरुक्षेत्र के युद्ध के बाद पाँचों पाण्डवों ने एक बड़ा भारी यज्ञ किया। उसमें निर्धनों को बहुत सा दान दिया गया। सभी लोगों ने उस यज्ञ की महत्ता एवं ऐश्वर्य पर आश्चर्य प्रकट किया और कहा कि ऐसा यज्ञ संसार में इसके पहले कभी नहीं हुआ था। यज्ञ के बाद उस स्थान पर एक छोटा सा नेवला आया। नेवले का आधा शरीर सुनहला था और शेष आधा भूरा। वह नेवला उस यज्ञ भूमि की मिट्टी पर लोटने लगा। थोड़ी देर बाद उसने दर्शकों से कहा, "तुम सब झूठे हो। यह कोई यज्ञ नहीं है।" लोगों ने कहा, "क्या! तुम कहते क्या हो! यह कोई यज्ञ ही नहीं है? तुम जानते हो, इस यज्ञ में कितना धन खर्च हुआ है, गरीबों को कितने हीरे-जवाहिरात बाँटे गये हैं, जिससे वे सब के सब धनी और खुशहाल हो गये हैं? यह तो इतना बड़ा यज्ञ था कि ऐसा शायद ही किसी मनुष्य ने किया हो।" परन्तु नेवले ने कहा, "सुनो, एक छोटे से गाँव में एक निर्धन ब्राह्मण रहता था, साथ थी उसकी स्त्री, पुत्र और पुत्र-वधू। वे लोग बड़े ग़रीब थे। पूजा-पाठ से उन्हें जो कुछ मिलता, उसी पर उनका निर्वाह होता था। एक बार उस गाँव में तीन साल तक अकाल पड़ा, जिससे उस बेचारे ब्राह्मण के दुःख-कष्ट की पराकाष्ठा हो गयी। एक बार तो, सारे कुटुम्ब को पाँच दिन तक उपवास करना पड़ा। छठवें दिन वह ब्राह्मण भाग्यवश कहीं से थोड़ा सा जौ का आटा ले आया। उस आटे के चार भाग परिवार के चारों सदस्यों के लिए किये गये। उन्होंने उसकी रोटी बनायी और ज्यों ही वे उसे खाने बैठे कि किसीने दरवाजा खटखटाया। पिता ने उठकर दरवाजा खोला, तो देखते हैं कि बाहर एक अतिथि खड़ा है। भारत में अतिथि बड़ा पवित्र माना जाता है। वह तो उस समय के लिए 'नारायण' ही समझा जाता है और उसके साथ तद्रूप व्यवहार भी किया जाता है। अतएव उस गरीब ब्राह्मण ने कहा, 'महाराज, पधारिए, आपका स्वागत है।' और उसने अतिथि के सामने अपना भाग रख दिया। अतिथि उसे जल्दी ही खा गया और बोला, 'अरे, आपने तो मुझे और भी मार डाला। मैं दस दिन का भूखा हूँ और भोजन के इस छोटे टुकड़े ने तो मेरी भूख और भी बढ़ा दी।' तब स्त्री ने अपने पति से कहा, 'आप मेरा भी भाग दे दीजिए।' पति ने कहा, 'नहीं, ऐसा नहीं होगा।' परन्तु स्त्री अपनी बात पर अड़ी रही और कहा, 'यह बेचारा गरीब भूखा है, हमारे यहाँ आया है। गृहस्थ की हैसियत से हमारा यह धर्म है कि हम उसे भोजन करायें। यह देखकर कि आप उसे अधिक नहीं दे सकते, पत्नी के नाते मेरा यह कर्तव्य है कि मैं उसे अपना भी भाग दे दूँ।' ऐसा कह उसने भी अपना भाग अतिथि को दे दिया। अतिथि ने वह भी खा लिया और कहा, 'मैं तो भूख से अभी भी जल रहा हूँ।' तब लड़के ने कहा, 'आप मेरा भाग भी ले लीजिए, क्योंकि

पुत्र का यह धर्म है कि वह पिता के कर्तव्यों को पूरा करने में उन्हें सहायता दे।' अतिथि ने वह भी खा लिया, परन्तु फिर भी उसकी तृप्ति नहीं हुई। अतएव बहू ने भी उसे अपना भाग दे दिया। अब यह पर्याप्त हो गया और अतिथि ने उनको आशीर्वाद दे बिदा ली। उसी रात वे चारों बेचारे भूख से पीड़ित हो मर गये। उस आटे के कुछ कण इधर-उधर ज़मीन पर बिखर गये थे, और जब मैंने उन पर लोट लगायी, तो मेरा आधा शरीर सुनहला हो गया, जैसा कि तुम अभी देख ही रहे हो। उस समय से मैं संसार भर में भ्रमण कर रहा हूँ और चाहता हूँ कि किसी दूसरी जगह भी मुझे ऐसा ही यज्ञ देखने को मिले; परन्तु वैसा यज्ञ मुझे कहीं देखने को नहीं मिला। मेरा शेष आधा शरीर किसी दूसरी जगह सुनहला न हो सका। इसीलिए तो कहता हूँ कि यह कोई यज्ञ ही नहीं है।"

दान का यह भाव भारत से धीरे धीरे लुप्त होता जा रहा है; महापुरुषों की संख्या धीरे धीरे कम होती जा रही है। जब बचपन में मैंने अंग्रेजी पढ़ना आरम्भ किया था, उस समय मैंने एक अंग्रेजी की कहानी की पुस्तक पढ़ी, जिसमें एक ऐसे कर्तव्यपरायण बालक का वर्णन था, जिसने काम करके जो कुछ उपार्जन किया था, उसका कुछ भाग अपनी वृद्ध माता को दे दिया था। उस बालक के इस कृत्य की प्रशंसा पुस्तक के तीन-चार पृष्ठों में गायी गयी थी। परन्तु इसमें कौन सा असाधारणत्व है? कोई भी हिन्दू बालक उस कहानी की नीति-शिक्षा को नहीं समझ सकता! और मुझे भी उसका महत्त्व आज ही समझ में आ रहा है, जब मैं इस पश्चिमी रिवाज को सुनता तथा देखता हूँ कि यहाँ प्रत्येक मनुष्य अपने अपने लिए ही है। इस देश में ऐसे भी लोग अनेक हैं, जो सब कुछ अपने ही लिए रख लेते हैं—उनके पिता, माता, स्त्री और बच्चों की फिर चाहे जैसी दशा क्यों न हो। एक गृहस्थ का ऐसा आदर्श तो कदापि और कहीं भी नहीं होना चाहिए।

अब तुमने देखा, कर्मयोग का अर्थ क्या है। उसका अर्थ है—मौत के मुँह में भी जाकर बिना तर्क-वितर्क किये सबकी सहायता करना। भले ही तुम लाखों बार ठगे जाओ, पर मुँह से एक बात तक न निकालो; और तुम जो कुछ भले कार्य कर रहे हो, उनके सम्बन्ध में सोचो तक नहीं। निर्धन के प्रति किये गये उपकार पर गर्व मत करो और न उससे कृतज्ञता की ही आशा रखो; बल्कि उलटे तुम्हीं उसके कृतज्ञ होओ—यह सोचकर कि उसने तुम्हें दान देने का एक अवसर दिया है। अतएव यह स्पष्ट है कि एक आदर्श संन्यासी होने की अपेक्षा एक आदर्श गृहस्थ होना अधिक कठिन है। यथार्थ कर्ममय जीवन, यथार्थ त्यागमय जीवन की अपेक्षा यदि अधिक कठिन नहीं, तो कम से कम उसके बराबर कठिन तो अवश्य है।

कर्तव्य क्या है ?

कर्मयोग का तत्त्व समझने के लिए यह जान लेना आवश्यक है कि कर्तव्य क्या है। यदि मुझे कोई काम करना है, तो पहले मुझे यह जान लेना चाहिए कि वह मेरा कर्तव्य है, और तभी मैं उसे कर सकता हूँ। विभिन्न जातियों में, विभिन्न देशों में इस कर्तव्य के सम्बन्ध में भिन्न भिन्न धारणाएँ हैं। मुसलमान कहता है कि जो कुछ क़ुरान-शरीफ़ में लिखा है, वही मेरा कर्तव्य है; इसी प्रकार हिन्दू कहता है कि जो कुछ मेरे वेदों में लिखा है, वही मेरा कर्तव्य है; फिर एक ईसाई की दृष्टि में जो कुछ उसकी बाइबिल में लिखा है, वही उसका कर्तव्य है। इससे हमें स्पष्ट दीख पड़ता है कि जीवन में अवस्था, ऐतिहासिक काल एवं जाति के भेद से कर्तव्य के सम्बन्ध में धारणाएँ भी बहुविध होती हैं। अन्यान्य सार्वभौमिक भावसूचक शब्दों की तरह 'कर्तव्य' शब्द की भी ठीक ठीक व्याख्या करना दुरूह है। व्यावहारिक जीवन में उसकी परिणति तथा उसके फलाफलों द्वारा ही हमें उसके सम्बन्ध में कुछ धारणा हो सकती है। जब हमारे सामने कुछ बातें घटती हैं, तो हम सब लोगों में उस सम्बन्ध में एक विशेष रूप से कार्य करने की स्वाभाविक अथवा प्रशिक्षित प्रवृत्ति उदित होती जाती है और इस प्रवृत्ति के उदित होने पर मन उस घटना के सम्बन्ध में सोचने लगता है। कभी तो वह यह सोचता है कि इस प्रकार की स्थिति में इसी तरह कार्य करना उचित है, फिर किसी दूसरे समय उसी प्रकार की स्थिति होने पर भी पूर्वोक्त रूप से कार्य करना अनुचित प्रतीत होता है। कर्तव्य के सम्बन्ध में सर्वत्र साधारण धारणा यही देखी जाती है कि हर एक सत्पुरुष अपने विवेक के आदेशानुसार कर्म किया करता है। परन्तु वह क्या है, जिससे एक कर्म 'कर्तव्य' बन जाता है? एक ईसाई के सामने गो-मांस का एक टुकड़ा रहने पर भी यदि वह अपनी प्राण-रक्षा के लिए उसे नहीं खाता अथवा किसी दूसरे मनुष्य के प्राण बचाने के लिए वह मांस नहीं दे देता, तो उसे निश्चय ही ऐसा लगेगा कि उसने अपना कर्तव्य नहीं किया। परन्तु इसी अवस्था में यदि एक हिन्दू स्वयं वह गो-मांस का टुकड़ा खा ले अथवा किसी दूसरे हिन्दू को दे दे, तो अवश्य उसे भी ठीक उसी प्रकार यह लगेगा कि उसने अपना कर्तव्य नहीं किया। हिन्दू जाति की शिक्षा तथा संस्कार ही ऐसे हैं, जिनके कारण उसके हृदय में ऐसे भाव जाग्रत हो जाते हैं। पिछली शताब्दी में भारतवर्ष में डाकुओं का एक कुख्यात दल था, जिन्हें ठग कहते थे।

वे किसी मनुष्य को मार डालना तथा उसका धन छीन लेना अपना कर्तव्य समझते थे। वे जितने अधिक मनुष्यों को मारने में समर्थ होते, उतना ही अपने को श्रेष्ठ समझते थे। साधारणतया यदि एक मनुष्य सड़क पर जाकर किसी दूसरे मनुष्य को बन्दूक से मार डाले, तो निश्चय ही उसे यह सोचकर दुःख होगा कि कर्तव्य-भ्रष्ट हो उसने अनुचित कार्य कर डाला है। परन्तु यदि वही मनुष्य एक फ़ौज में सिपाही की हैसियत से एक नहीं, बल्कि बीसों आदमियों को भी मार डाले, तो उसे यह सोचकर अवश्य प्रसन्नता होगी कि उसने अपना कर्तव्य बहुत सुन्दर ढंग से निबाहा। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि केवल किसी कार्यविशेष से कर्तव्य निर्धारित नहीं होता। कर्तव्य की कोई वस्तुनिष्ठ परिभाषा कर सकना नितान्त असम्भव है। किन्तु कर्तव्य का एक आत्मनिष्ठ पक्ष भी होता है। यदि किसी कर्म द्वारा हम ईश्वर की ओर बढ़ते हैं, तो वह शुभ कर्म है और वह हमारा कर्तव्य है; परन्तु जिस कर्म द्वारा हम नीचे गिरते हैं, वह अशुभ है, और वह हमारा कर्तव्य नहीं। आत्मनिष्ठ दृष्टिकोण से देखने पर हमें यह प्रतीत होता है कि कुछ कार्य ऐसे होते हैं, जो हमें उन्नत बनाते हैं, और दूसरे ऐसे, जो हमें नीचे ले जाते हैं और पशुवत् बना देते हैं। किन्तु विभिन्न व्यक्तियों में कौन सा कार्य किस तरह का भाव उत्पन्न करेगा, यह निश्चित रूप से बताना असम्भव है। सभी युगों में समस्त सम्प्रदायों और देशों के मनुष्यों द्वारा मान्य यदि कर्तव्य का कोई एक सार्वभौमिक भाव रहा है, तो वह है—**परोपकारः पुण्याय पापाय परपीडनम्।**—अर्थात् परोपकार ही पुण्य है, और दूसरों को दुःख पहुँचाना ही पाप है।

भगवद्गीता में जन्म तथा जीवन की विविध अवस्थाओं के अनुसार कर्तव्यों का बारम्बार उल्लेख हुआ है। जीवन के विभिन्न कर्तव्यों के प्रति मनुष्य का जो मानसिक और नैतिक दृष्टिकोण रहता है, वह अनेक अंशों में उसके जन्म और उसकी अवस्था द्वारा नियमित होता है। इसीलिए जिस समाज में हमारा जन्म हुआ हो, उसके आदर्शों और व्यवहार के अनुरूप उदात्त एवं उन्नत बनानेवाले कार्य करना ही हमारा कर्तव्य है। परन्तु यह विशेष रूप से ध्यान रखना चाहिए कि सभी देशों और समाजों में एक ही प्रकार के आदर्श एवं आचरण प्रचलित नहीं हैं। इस विषय में हमारी अज्ञता ही एक जाति की दूसरी के प्रति घृणा का मुख्य कारण है। एक अमेरिकानिवासी समझता है कि उसके देश की प्रथाएँ ही सर्वोत्कृष्ट हैं, अतएव जो कोई उसकी प्रथाओं के अनुसार व्यवहार नहीं करता, वह दुष्ट है। इसी प्रकार एक हिन्दू सोचता है कि केवल उसीके रीति-रिवाज ही ठीक और संसार भर में सर्वोत्तम हैं, और जो उनका पालन नहीं करता, वह महा दुष्ट है। हम सहज ही इस भ्रम में पड़ जाते हैं, और ऐसा होना बहुत स्वाभाविक भी है।

परन्तु यह बहुत अहितकर है; संसार में परस्पर के प्रति सहानुभूति के अभाव एवं पारस्परिक घृणा का यह प्रधान कारण है। मुझे स्मरण है, जब मैं इस देश में आया और जब मैं शिकागो-महामेला में से जा रहा था, तो किसी आदमी ने पीछे से मेरा साफ़ा खींच लिया। मैंने पीछे घूमकर देखा, तो अत्यन्त संभ्रान्त लगते एक सज्जन दिखायी पड़े। मैंने उनसे बातचीत की, और जब उन्हें यह मालूम हुआ कि मैं अंग्रेजी भी जानता हूँ, तो वे बहुत शर्मिन्दा हुए। इसी प्रकार, उसी सम्मेलन में एक दूसरे अवसर पर एक मनुष्य ने मुझे धक्का दे दिया; पीछे घूमकर जब मैंने उससे कारण पूछा, तो वह भी बहुत लज्जित हुआ और हकला हकलाकर मुझसे माफ़ी माँगते हुए कहने लगा, "आप ऐसी पोशाक क्यों पहनते हैं ?" इन लोगों की सहानुभूति बस अपनी ही भाषा और वेशभूषा तक सीमित थी। शक्तिशाली जातियाँ कमज़ोर जातियों पर जो अत्याचार करती हैं, उसका अधिकांश इसी दुर्भावना के कारण होता है। मानव मात्र के प्रति मानव का जो बन्धुभाव रहता है, उसको यह सोख लेता है। सम्भव है, वह मनुष्य, जिसने मुझसे मेरी पोशाक के बारे में पूछा था तथा जो मेरे साथ मेरी पोशाक के कारण ही दुर्व्यवहार करना चाहता था, एक भला आदमी रहा हो, एक सन्तानवत्सल पिता और एक सभ्य नागरिक रहा हो; परन्तु उसकी स्वाभाविक सहृदयता का अन्त बस उसी समय हो गया, जब उसने मुझ जैसे एक व्यक्ति को दूसरे वेश में देखा। सभी देशों में विदेशियों का शोषण होता है, क्योंकि वे यह नहीं जानते कि परदेश में अपने को कैसे बचायें। और इस प्रकार वे उन देशवासियों के प्रति अपने देश में भ्रांत धारणाएँ साथ ले जाते हैं। मल्लाह, सिपाही और व्यापारी दूसरे देशों में ऐसे अद्भुत व्यवहार किया करते हैं, जैसा अपने देश में करना वे स्वप्न में भी नहीं सोच सकेंगे। शायद यही कारण है कि चीनी लोग यूरोप और अमेरिकावासियों को 'विदेशी शैतान' कहा करते हैं। पर यदि उन्हें पश्चिमी देश की सज्जनता तथा उसकी नम्रता का भी अनुभव हुआ होता, तो वे शायद ऐसा न कहते।

अतएव हमें जो बात विशेष रूप से ध्यान में रखनी चाहिए, वह यह है कि हम दूसरे के कर्तव्यों को उसकी दृष्टि से देखें, दूसरों के रीति-रिवाज़ों को अपने रीति-रिवाज़ के मापदण्ड से न जाँचें। मैं विश्व भर के लिए मापदण्ड नहीं हूँ। हमीं को संसार के साथ मिल-जुलकर चलना होगा, न कि संसार को हमारे साथ। इस प्रकार हम देखते हैं कि देश-काल-पात्र के अनुसार हमारे कर्तव्य कितने बदल जाते हैं और सबसे श्रेष्ठ कर्म तो यह है कि जिस विशिष्ट समय पर हमारा जो कर्तव्य हो, उसीको हम भली भाँति निबाहें। पहले तो हमें जन्म से प्राप्त कर्तव्य को करना चाहिए; और उसे कर चुकने के बाद, समाज और जीवन में हमारी स्थिति के अनुसार जो कर्तव्य हो, उसे सम्पन्न करना चाहिए। मानव-स्वभाव की एक विशेष कमज़ोरी यह है कि वह स्वयं अपनी ओर कभी नज़र नहीं डालता। वह तो सोचता है कि मैं भी राजा के सिंहासन पर बैठने के योग्य हूँ। और यदि मान लिया जाय कि वह है भी, तो सबसे पहले उसे यह दिखा देना चाहिए कि वह अपनी वर्तमान स्थिति का कर्तव्य भली भाँति कर चुका है; ऐसा होने पर उसके सामने उच्चतर कर्तव्य आयेंगे। जब संसार में हम लगन से काम शुरू करते हैं, तो प्रकृति हमें चारों ओर से धक्के देने लगती है और शीघ्र ही हमें इस योग्य बना देती है कि हम अपनी स्थिति प्राप्त कर सकें। जो जिस पद के योग्य नहीं है, वह दीर्घकाल तक उसमें रहकर सबको सन्तुष्ट नहीं कर सकता। अतएव प्रकृति के विधान के विरुद्ध बड़बड़ाना व्यर्थ है। यदि कोई मनुष्य छोटा कार्य करे, तो उसी कारण वह छोटा नहीं कहा जा सकता। कर्तव्य के केवल ऊपरी रूप से ही मनुष्य की उच्चता या नीचता का निर्णय करना उचित नहीं, देखना तो यह चाहिए कि वह अपना कर्तव्य किस भाव और ढंग से करता है।

आगे चलकर हम देखेंगे कि कर्तव्य की यह धारणा भी परिवर्तित हो जाती है, और यह भी देखेंगे कि सबसे श्रेष्ठ कार्य तो तभी होता है, जब उसके पीछे किसी प्रकार के स्वार्थ की प्रेरणा नहीं होती। फिर भी यह स्मरण रखना चाहिए कि कर्तव्य ज्ञान से किया हुआ कर्म ही हमें कर्तव्य-ज्ञान से अतीत कर्म की ओर ले जाता है। और तब कर्म उपासना में परिणत हो जाता है—इतना ही नहीं, वरन् उस समय कर्म का अनुष्ठान केवल कर्म के लिए ही होता है। फिर हमें प्रतीत होगा कि कर्तव्य का दर्शन, चाहे वह नैतिकता पर अधिष्ठित हो अथवा प्रेम पर, वही है, जो अन्य किसी योग का—जिसका उद्देश्य है, 'निम्न अहं' को क्रमशः घटाते घटाते बिल्कुल नष्ट कर देना, जिससे अन्त में 'उच्च अहं' प्रकाशित हो जाय, तथा निम्न स्तर में अपनी शक्तियों का क्षय होने से रोकना, जिससे आत्मा अधिकाधिक उच्च भूमि में प्रकाशमान हो सके। यह कार्य नीच वासनाओं के उदय होने पर, कर्तव्य की कठोर आवश्यकता के अनुसार, उनका निग्रह करने से किया जा सकता है। जान या अनजान में सारी समाज-संस्था इस प्रकार संगठित हुई है कि कर्म और अनुभूति के क्षेत्र में स्वार्थ को धीरे धीरे कम करते हुए, हम मनुष्य के वास्तविक स्वरूप के अनन्त विकास का पथ खोल देते हैं।

कर्तव्य का पालन शायद ही कभी मधुर होता हो। कर्तव्य-चक्र तभी हलका और आसानी से चलता है, जब उसके पहियों में प्रेमरूपी चिकनाई लगी होती है, अन्यथा वह एक अविराम घर्षण मात्र है। यदि ऐसा न हो, तो माता-पिता अपने बच्चों के प्रति, बच्चे अपने माता-पिता के प्रति, पति अपनी पत्नी के प्रति तथा

पत्नी अपने पति के प्रति अपना अपना कर्तव्य कैसे निभा सकें ? क्या इस घर्षण के उदाहरण हमें अपने दैनिक जीवन में सदैव दिखायी नहीं देते ? कर्तव्य-पालन की मधुरता प्रेम में ही है, और प्रेम का विकास केवल स्वतन्त्रता में होता है। परन्तु सोचो तो सही, इन्द्रियों का, क्रोध का, ईर्ष्या का तथा मनुष्य के जीवन में प्रतिदिन होनेवाली अन्य सैकड़ों छोटी छोटी बातों का ग़ुलाम होकर रहना क्या स्वतन्त्रता है ? अपने जीवन के इन सब क्षुद्र संघर्षों में सहिष्णुता धारण करना ही स्वतन्त्रता की सर्वोच्च अभिव्यक्ति है। स्त्रियाँ स्वयं अपने चिड़चिड़े एवं ईर्ष्यापूर्ण स्वभाव की ग़ुलाम होकर अपने पतियों को दोष दिया करती हैं। वे दावा करती हैं कि हम स्वाधीन हैं; परन्तु वे नहीं जानतीं कि ऐसा करने से वे स्वयं को निरी ग़ुलाम सिद्ध कर रही हैं। और यही हाल उन पतियों का भी है जो सदैव अपनी स्त्रियों में दोष देखा करते हैं।

पवित्रता ही स्त्री और पुरुष का सर्वप्रथम धर्म है। ऐसा उदाहरण शायद ही कहीं हो कि एक पुरुष—वह चाहे जितना भी पथ-भ्रष्ट क्यों न हो गया हो—अपनी नम्र, प्रेमपूर्ण तथा पतिव्रता स्त्री द्वारा ठीक रास्ते पर न लाया जा सके। संसार अभी भी उतना गिरा नहीं है। हम बहुधा संसार में बहुत से निर्दय पतियों तथा पुरुषों के भ्रष्टाचरण के बारे में सुनते रहते हैं; परन्तु क्या यह बात सच नहीं है कि संसार में उतनी ही निर्दय तथा भ्रष्ट स्त्रियाँ भी हैं ? यदि सभी स्त्रियाँ इतनी शुद्ध और पवित्र होतीं, जितना कि वे दावा करती हैं, तो मुझे पूरा विश्वास है कि समस्त संसार में एक भी अपवित्र पुरुष न रह जाता। ऐसा कौन सा पाशविक भाव है, जिसे पवित्रता और सतीत्व पराजित नहीं कर सकता ? एक शुद्ध पतिव्रता स्त्री, जो अपने पति को छोड़कर अन्य सब पुरुषों को पुत्रवत् समझती है तथा उनके प्रति माता का भाव रखती है, धीरे धीरे अपनी पवित्रता की शक्ति में इतनी उन्नत हो जायगी कि एक अत्यन्त पाशविक प्रवृत्तिवाला मनुष्य भी उसके सान्निध्य में पवित्र वातावरण का अनुभव करेगा। इसी प्रकार प्रत्येक पति को, अपनी स्त्री को छोड़कर अन्य सब स्त्रियों को अपनी माता, बहन अथवा पुत्री के समान देखना चाहिए। विशेषकर उस मनुष्य को, जो धर्म का प्रचारक होना चाहता है, यह आवश्यक है कि वह प्रत्येक स्त्री को मातृवत् देखे और उसके साथ सदैव तद्रूप व्यवहार करे।

मातृपद ही संसार में सबसे श्रेष्ठ पद है, क्योंकि यही एक ऐसी स्थिति है, जहाँ निःस्वार्थता की महत्तम शिक्षा प्राप्त की जा सकती है। केवल भगवत्प्रेम ही माता के प्रेम से उच्च है, अन्य सब तो निम्न श्रेणी के हैं। माता का कर्तव्य है कि पहले वह अपने बच्चों की सोचे, फिर अपने लिए; परन्तु उसके बजाय यदि माता-पिता सर्वदा पहले अपने ही बारे में सोचें, तो फल यह होगा कि उनमें तथा उनके बच्चों

में वही सम्बन्ध स्थापित हो जायगा, जो चिड़ियों तथा उनके बच्चों में होता है। चिड़ियों के बच्चे जब उड़ने योग्य हो जाते हैं, तो अपने माँ-बाप को पहचानते तक नहीं। वास्तव में वह पुरुष धन्य है, जो स्त्री को ईश्वर के मातृभाव की प्रतिमूर्ति समझता है; और वह स्त्री भी धन्य है, जो पुरुष को ईश्वर के पितृभाव की प्रतिमूर्ति मानती है ; तथा वे बच्चे भी धन्य हैं, जो अपने माता-पिता को भगवान् का ही रूप मानते हैं।

हमारी उन्नति का एकमात्र उपाय यह है कि हम पहले वह कर्तव्य करें, जो हमारे हाथ में है। और इस प्रकार धीरे धीरे शक्ति-संचय करते हुए क्रमशः हम सर्वोच्च अवस्था को प्राप्त कर सकते हैं।

एक तरुण संन्यासी वन में गया। वहाँ उसने दीर्घकाल तक ध्यान-भजन तथा योगाभ्यास किया। अनेक वर्षों की कठिन तपस्या के बाद एक दिन जब वह एक वृक्ष के नीचे बैठा था, तो उसके ऊपर वृक्ष से कुछ सूखी पत्तियाँ आ गिरीं। उसने ऊपर निगाह उठायी, तो देखा कि एक कौआ और एक बगुला पेड़ पर लड़ रहे हैं। यह देखकर संन्यासी को बहुत क्रोध आया। उसने कहा, "यह क्या ! तुम्हारा इतना साहस कि तुम ये सूखी पत्तियाँ मेरे सिर पर फेंको ?" इन शब्दों के साथ संन्यासी की क्रुद्ध आँखों से आग की एक ज्वाला सी निकली, और वे बेचारी दोनों चिड़ियाँ उससे जलकर भस्म हो गयीं। अपने में यह शक्ति देखकर वह संन्यासी बड़ा खुश हुआ; उसने सोचा, 'वाह, अब तो मैं दृष्टि मात्र से कौए-बगुले को भस्म कर सकता हूँ।' कुछ समय बाद भिक्षा के लिए वह एक गाँव को गया। गाँव में जाकर वह एक दरवाजे पर खड़ा हुआ और पुकारा, "माँ कुछ भिक्षा मिले।" भीतर से आवाज़ आयी, "थोड़ा रुको, मेरे बेटे।" संन्यासी ने मन में सोचा, "अरे दुष्टा, तेरा इतना साहस कि तू मुझ से प्रतीक्षा कराये ! अब भी तू मेरी शक्ति नहीं जानती ?" संन्यासी ऐसा सोच ही रहा था कि भीतर से फिर एक आवाज़ आयी, "बेटा, अपने को इतना बड़ा मत समझ। यहाँ न तो कोई कौआ है और न बगुला।" यह सुनकर संन्यासी को बड़ा आश्चर्य हुआ। बहुत देर तक खड़े रहने के बाद अन्त में घर में से एक स्त्री निकली और उसे देखकर संन्यासी उसके चरणों पर गिर पड़ा और बोला, "माँ, तुम्हें यह सब कैसे मालूम हुआ?" स्त्री ने उत्तर दिया, "बेटा, न तो मैं तुम्हारा योग जानती हूँ और न तुम्हारी तपस्या। मैं तो एक साधारण स्त्री हूँ। मैंने तुम्हें इसलिए थोड़ी देर रोका था कि मेरे पतिदेव बीमार हैं और मैं उनकी सेवा-शुश्रूषा में संलग्न थी। यही मेरा कर्तव्य है। सारे जीवन भर मैं इसी बात का यत्न करती रही हूँ कि मैं अपना कर्तव्य पूर्ण रूप से निबाहूँ। जब मैं अविवाहित थी, तब मैंने अपने माता-पिता के प्रति पुत्री

का कर्तव्य किया और अब जब मेरा विवाह हो गया है, तो मैं अपने पतिदेव के प्रति पत्नी का कर्तव्य करती हूँ। बस, यही मेरा योगाभ्यास है। अपना कर्तव्य करने से ही मेरे दिव्य चक्षु खुल गये हैं, जिससे मैंने तुम्हारे विचारों को जान लिया और मुझे इस बात का भी पता चल गया कि तुमने वन में क्या किया है। यदि तुम्हें इससे भी कुछ उच्चतर तत्त्व जानने की इच्छा है, तो अमुक नगर के बाजार में जाओ, वहाँ तुम्हें एक व्याध मिलेगा। वह तुम्हें कुछ ऐसी बातें बतलायेगा जिन्हें सुनकर तुम बड़े प्रसन्न होगे।" संन्यासी ने विचार किया, "भला मैं उस शहर में उस व्याध के पास क्यों जाऊँ?" परन्तु उसने अभी जो घटना देखी, उसे सोचकर उसकी आँखें कुछ खुल गयीं। अतएव वह उस शहर में गया। जब वह शहर के नजदीक आया, तो उसने दूर से एक बड़े मोटे व्याध को बाजार में बैठे हुए और बड़े बड़े छुरों से मांस काटते हुए देखा। वह लोगों से अपना सौदा कर रहा था। संन्यासी ने मन ही मन सोचा, "हरे! हरे! क्या यही वह व्यक्ति है, जिससे मुझे शिक्षा मिलेगी? दिखता तो यह शैतान का अवतार है!" इतने में व्याध ने संन्यासी की ओर देखा और कहा, "महाराज, क्या उस स्त्री ने आपको मेरे पास भेजा है? कृपया बैठ जाइए। मैं ज़रा अपना काम समाप्त कर लूँ।" संन्यासी ने सोचा, 'यहाँ मुझे क्या मिलेगा?' खैर, वह बैठ गया। इधर व्याध अपना काम लगातार करता रहा और जब वह अपना काम पूरा कर चुका, तो उसने अपने रुपये-पैसे समेटे और संन्यासी से कहा, "चलिए महाराज, घर चलिए।" घर पहुँचकर व्याध ने उसे आसन दिया और कहा, "आप यहाँ थोड़ा ठहरिए।" व्याध अपने घर में चला गया। उसने अपने वृद्ध माता-पिता को स्नान कराया, उन्हें भोजन कराया और उन्हें प्रसन्न करने के लिए जो कुछ कर सकता था, किया। उसके बाद वह उस संन्यासी के पास आया और कहा, "महाराज, आप मेरे पास आये हैं। अब बताइए, मैं आपकी क्या सेवा कर सकता हूँ?" संन्यासी ने उससे आत्मा तथा परमात्मा सम्बन्धी कुछ प्रश्न किये और उनके उत्तर में व्याध ने उसे जो उपदेश दिया, वही महाभारत में 'व्याध-गीता' के नाम से प्रसिद्ध हैं। व्याध-गीता में हमें वेदान्त दर्शन की एक पराकाष्ठा के दर्शन होते हैं। जब व्याध अपना उपदेश समाप्त कर चुका, तो संन्यासी को बड़ा आश्चर्य हुआ और उसने कहा, "फिर आप इस शरीर में क्यों हैं? इतने ज्ञानी होते हुए भी आप व्याध-शरीर में क्यों हैं, इतना गंदा और घिनौना कार्य क्यों करते हैं?" व्याध ने उत्तर दिया, "वत्स, कोई भी कर्तव्य गंदा नहीं है। कोई भी कर्तव्य अपवित्र नहीं है। मेरे जन्म ने मुझे इस परिस्थिति में रख दिया। बचपन से ही मैंने यह व्यापार सीखा है, मैं अनासक्त हूँ और अपना कर्तव्य उत्तम रूप से किये जाता हूँ। मैं गृहस्थ के नाते अपना कर्तव्य करता

हूँ और अपने माता-पिता को प्रसन्न रखने के लिए जो कुछ मुझसे बन पड़ता है, करता हूँ। न तो मैं तुम्हारा योग जानता हूँ और न मैं कभी संन्यासी ही हुआ। संसार छोड़कर मैं कभी वन में नहीं गया। परन्तु फिर भी जो कुछ तुमने मुझसे सुना तथा देखा, वह सब मुझे अनासक्त भाव से अपनी अवस्था के अनुरूप कर्तव्य का पालन करने से ही प्राप्त हुआ है।"

भारतवर्ष में एक बहुत बड़े महात्मा[1] हैं। अपने जीवन में मैंने जितने महा अद्‌भुत पुरुष देखे, उनमें से वे एक हैं। वे विचित्र व्यक्ति हैं, कभी किसीको उपदेश नहीं देते; यदि तुम उनसे कोई प्रश्न पूछो भी, तो भी वे उसका उत्तर नहीं देते। गुरु का पद ग्रहण करने में वे बड़े संकुचित होते हैं। यदि तुम उनसे आज एक प्रश्न पूछो और उसके बाद कुछ दिन प्रतीक्षा करो, तो किसी दिन अपनी बातचीत में वे उस प्रश्न को उठाकर उस पर बड़ा सुन्दर प्रकाश डालते हैं। उन्होंने मुझे एक बार कर्म का रहस्य बताया था। उन्होंने कहा, "साधन और सिद्धि को एकरूप समझो।" अर्थात् साधना-काल में साधन में ही मन-प्राण अर्पण कर कार्य करो, क्योंकि उसकी चरम अवस्था का नाम ही सिद्धि है। जब तुम कोई कर्म करो, तब अन्य किसी बात का विचार ही मत करो। उसे एक उपासना के—बड़ी से बड़ी उपासना के रूप में करो, और उस समय उसमें अपना सारा तन-मन लगा दो। यही बात हमने उपर्युक्त कथा में भी देखी है। व्याध एवं वह स्त्री—दोनों ने अपना अपना कर्तव्य बड़ी प्रसन्नता से तथा तन्मनस्क होकर किया और उसका फल यह हुआ कि उन्हें दिव्य ज्ञान प्राप्त हुआ। इससे हमें यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि जीवन की किसी भी अवस्था में, कर्मफल में बिना आसक्ति रखे यदि कर्तव्य उचित रूप से किया जाय, तो उससे हमें आत्मा की पूर्णता का सर्वोच्च अनुभव प्राप्त होता है।

कर्मफल में आसक्ति रखनेवाला व्यक्ति अपने भाग्य में आये हुए कर्तव्य पर भिनभिनाता है। अनासक्त पुरुष को सब कर्तव्य समरूप से शुभ हैं। उसके लिए तो वे कर्तव्य स्वार्थपरता तथा इन्द्रियपरायणता को नष्ट करके आत्मा को मुक्त कर देने के लिए शक्तिशाली साधन हैं। हम सब अपने को बहुत बड़ा मानते हैं। प्रकृति ही सदैव कड़े नियम से हमारे कर्मों के अनुसार उचित कर्मफल का विधान करती है। और इसलिए अपनी ओर से चाहे हम किसी कर्तव्य को स्वीकार करने के लिए भले ही अनिच्छुक हों, फिर भी वास्तव में हमारे कर्मफल

---

१. पवहारी बाबा एक प्रसिद्ध महात्मा थे। इनका आश्रम गाजीपुर में था। स्वामी विवेकानन्द ने इन पर एक संक्षिप्त जीवन-चरित्र लिखा। देखिए नवम खंड पृष्ठ २५८। सं०

के अनुसार ही हमारे कर्तव्य निर्दिष्ट होंगे। स्पर्धा से ईर्ष्या उत्पन्न होती है और उससे हृदय की कोमलता नष्ट हो जाती है। भिनभिनाते रहनेवाले पुरुष के लिए सभी कर्तव्य नीरस होते हैं। उसे कभी किसी चीज से सन्तोष नहीं होता और फलस्वरूप उसका जीवन दूभर हो उठना और असफल हो जाना स्वाभाविक है। हमें चाहिए कि हम काम करते रहें; जो कुछ भी हमारा कर्तव्य हो, उसे करते रहें, अपना कन्धा सदैव काम से भिड़ाये रखें। तभी अवश्य हमें प्रकाश की उपलब्धि होगी।